TIGHT BINDING BOOK

निबंध-रत्नावली

पहला भाग

संकलनकर्ता और संपादक

श्यामसुंदरदास

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

सन् १९४१]

[मूल्य २)

Published by
K. Mittra.
The Indian Press, Ltd ,
Allahabad.

Printed by
B. Sajjan,
at The Belvedere Printing works
Allahabad.

प्रस्तावना

हिंदी-साहित्य में निबंधों का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है। प्राचीन संस्कृत-परंपरा के अनुसार निबंध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया था। भारतवर्ष का सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण और क्रमबद्ध वैज्ञानिक अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है। इसी दार्शनिक विश्लेषण और वैज्ञानिक अभिव्यक्ति के लिये निबंध का प्रयोग किया गया है। अतः उसकी शैली पूर्ण रूप से वस्तु-प्रधान और कहीं कहीं जटिल तथा सूत्रबद्ध हो गई है। एक निश्चित विषय को लेकर उसके अंग-प्रत्यंग की मीमांसा ऐसे निःशंक रूप में की गई है कि उसमें लेखक की व्यक्तिगत सत्ता को छाया छू भी न पाई। ऐसे निबंध स्वभावतः ही बुद्धि-विशिष्ट, रूक्ष और वैज्ञानिक कोटिक्रम से संयुक्त हुए। प्राचीन भारतीय निबंधों की यह प्रमुख विशेषता है कि वे लौह आच्छद में जकड़े हुए परतंत्र रूप में प्रकट हुए, जिनमें निगमन, दृष्टांत आदि सब शृंखलाबद्ध पद्धतियों की अवतारणा हुई। इसलिए प्राचीन निबंधकार शुद्ध साहित्यिक कोटि में स्थान न पा सके। वे एक प्रकार की विश्लेषात्मक कोटि में रख दिए गए। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा। न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कार-पूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न भाव-प्रधान शैली का ही प्रवेश हो पाया।

आधुनिक निबंधों की शैली में शैथिल्यपूर्ण वातावरण के अतिरिक्त व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। यह शैथिल्य, जिसमें आत्मीयता और सुकरता की ध्वनि भरी रहती है, निबंध की कलाजन्य विशेषता है। इस शैथिल्य से तात्पर्य अपरिपुष्ट रचनाओं से नहीं है। इसकी शैली तो अत्यधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिए। इसी के द्वारा निबंध-लेखक बौद्धिक विचारों की दुरूहता और शुष्कता को दूर कर सकते है और पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं। उन्हें शैथिल्यपूर्ण हलका आवरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है। निबंधकार घटनाओं और पात्रों की योजना का आकर्षण तथा भावना की तन्मयता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की आत्मीयता का अंशत: ही प्रयोग कर सकता है।

व्यक्तित्व की प्रधानता से तात्पर्य उन विचारों से है जिनके द्वारा लेखक एक अनोखा आकर्षण उत्पन्न कर सकता और रसज्ञों पर अपना अमिट प्रभाव डाल सकता है। इन्हीं विचारों को प्रकट करने में वह अपना व्यक्तित्व भी प्रकट कर देता है।

निबंध प्राय: तीन प्रकार के होते हैं—विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक। इनको अलग अलग श्रेणियों में विभक्त करना असंभव है। निबंध चाहे विचारात्मक हों, चाहे भावात्मक या वर्णनात्मक, उनमें भावों और विचारों का ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि वे एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। हाँ, जिसकी प्रधानता होती है उसी नाम से वे

अभिहित होते हैं। किसी स्थान का वर्णन करने में मन में भाँति भाँति के विचार तथा अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। वे इस वर्णन की शोभा और मनोहरता का उत्कर्ष-वर्द्धन करने के साधक हो जाते हैं। इन्हीं भावों और विचारों के द्वारा निबंध-लेखक अपना व्यक्तित्व प्रकट करता और उन पर अपनी विशिष्ट छाप लगा देता है। यही कारण है कि उसकी शैली में भी एक अनिर्वचनीय विशिष्टता आ जाती है। कहीं वह समास-प्रणाली का उपयुक्त प्रयोग कर मन को मुग्ध करता और कहीं व्यास-प्रणाली का अनुसरण कर अपने विषय को उछलता कूदता हुआ बनाकर एक गंभीर तथा तीव्रगामिनी नदी के धारा-प्रवाह की भाँति सरकता चलता है। अतएव जहाँ भावों और विचारों की गंभीरता के साथ भाषा-शैली का मनोहर मिश्रण रहता है वहाँ निबंधों की विशिष्टता स्पष्ट हो जाती है और लेखक का व्यक्तित्व साक्षात् आविर्भूत हो जाता है। इसी लिये किसी लेखक की भाषा-शैली का विवेचन करने के लिये प्रायः उसके लिखे निबंधों को ही आधार बनाकर विवेचन किया जाता है।

हिंदी में निबंधों का आरंभ तो भारतेंदुजी के समय में ही हो गया था और पंडित बालकृष्ण भट्ट तथा पंडित प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अपने-अपने विशिष्टतायुक्त ढंग पर इस परंपरा को जीवित रखा और यह कुछ-कुछ चलती रही, पर हिंदी में निबंधों का वास्तविक अभ्युदय और विकास आधुनिक काल में

हुआ। इस काल के निबंध-लेखकों में से तीन प्रमुख लेखकों के पाँच-पाँच निबंध-रत्नों का संग्रह करके इस रत्नमाला में गुंफित किया जाता है। वे हैं—पंडित माधवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह और पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी। संताप की बात है कि ये तीनों अल्पकाल तक हिंदी की सेवा कर और उसके भांडार को गौरवान्वित बनाकर स्वर्ग सिधार गए। हम यहाँ पर इन तीनों महाशयों का जीवनचरित संक्षेप में देते हैं—

(१) पंडित माधवप्रसाद मिश्र के पितामह पंडित जयरामदास पंजाब प्रदेश के हिसार जिले में भिवानी के समीप कूँगड़ ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पुत्र पंडित रामजीदासजी हुए। पिता और पुत्र दोनों ही संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। हरियाना प्रांत और कुरुक्षेत्र में उनके पांडित्य की विशेष प्रतिष्ठा थी। रामजीदास के दो पुत्र हुए—एक पंडित माधवप्रसाद और दूसरे पंडित राधाकृष्ण। पंडित माधवप्रसाद का जन्म कूँगड़ ग्राम में संवत् १९२८ के भाद्रमास की शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। भिवानी के एक क्षमताशाली मारवाड़ी महोदय के विशेष आग्रह से पंडित जयरामदास भिवानी में बस गए थे, पर कूँगड़ ग्राम से उनका संबंध न छूटा।

पंडित माधवप्रसाद ने आरंभ में शिक्षा अपने पिता से ही पाई। वे पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे पर साथ ही बालसुलभ उत्पातों की भी उनमें कमी न थी। इनकी दादी भी पढ़ी लिखी और हरिभक्ति-परायण साध्वी स्त्री थीं। उनके चरित्र का प्रभाव

पंडित माधवप्रसाद पर बहुत कुछ पड़ा और उन्होंने पुराणों तथा इतिहासों की कथा सुन सुनकर बहुत ज्ञान और धर्मभीरुता का भाव ग्रहण किया। अपने पिता से उन्होंने व्याकरण, काव्य, पुराण एवं धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनंतर बुलंदशहर के प्रख्यात पंडित श्रीधरजी से पढ़ा और अंत में काशी आकर महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री से दर्शनशास्त्र और पंडित उमापति से साहित्य का पूर्ण अध्ययन किया। इसी बीच में आपने उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती और पंजाबी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह क्रम पचीस वर्ष की अवस्था तक बना रहा। इसके अनंतर वे कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। इस क्षेत्र में उनकी जीवन-सरिता तीन धाराओं में प्रवाहित हुई--धर्म, देश और साहित्य।

साहित्य-कार्य में उन्होंने बाबू देवकीनंदन खत्री के सहयोग से संवत् १९५७ में सुदर्शन नामक मासिक पत्र निकाला था। यह दो वर्ष चार महीने चलकर बंद हो गया। इसके बंद होने का कारण ग्राहकों का अभाव या अर्थ-संकट न था, प्रत्युत अनेक कार्यों में मिश्रजी के लिप्त हो जाने के कारण वे संपादन-कार्य के लिये जितना समय देना चाहिए उतना दे नहीं सकते थे। इस सुदर्शन द्वारा उन्होंने ऐसे सुन्दर निबंध लिखे कि जिनकी जोड़ के लेख उस समय तो मिलने दुर्लभ थे। जैसा उनमें पांडित्य का प्रतिबिंब झलकता है वैसे परिमार्जित, प्रांजल और पुष्ट भाषा के दर्शन भी होते हैं। मिश्रजी ने कोई ६० से ऊपर

लेख लिखे थे, जिनमें सबसे अधिक जीवनचरित थे। उनमें 'विशुद्ध-चरितावली' तो आदर्शरूप मानी जा सकती है, पर खेद की बात है कि वह अधूरी ही रह गई। हिंदुओं के पर्वों या त्यौहारों पर उन्होंने आठ लेख लिखे थे जो बड़े ही सुन्दर और मार्मिक हैं। ये लेख श्रीपंचमी, होली, रामलीला, व्यासपूजा, नवीन वर्षोत्सव, कुम्भपर्व, श्रावण के त्यौहार और विजया दशमी के संबंध में लिखे गए हैं। इसके साथ उनके सात तीर्थस्थानों तथा यात्राओं के वर्णन बड़े ही मनोहर और सुन्दर हुए हैं। इनके सब लेखों का संग्रह छप गया है। उनकी समालोचनाएँ भी बड़ी निर्भीक पर शिष्ट होती थीं। उन्होंने 'वैश्योपकारक' पत्र का भी कोई दो वर्ष तक संपादन किया था।

इसी प्रकार धर्मपक्ष में वे सनातन धर्म के पूर्ण पक्षपाती थे। उसके अपमान या निंदा को वे सह नहीं सकते थे। भारतधर्म-महामंडल के उत्थान और उन्नति में उन्होंने पंडित दीनदयालु शर्मा का सहयोग किया था, पर पीछे मतभेद हो जाने के कारण वे उसके विरुद्ध हो गए। समाज-सेवा करने में वे कभी पराङ्मुख नहीं हुए। उन्होंने कलकत्ते के विशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय की स्थापना में पूरा उद्योग किया तथा मारवाड़ियों की कई सामाजिक कुरीतियों के दूर करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की थी।

मिश्रजी का स्वभाव दृढ़, मिलनसार और निरपेक्ष था। मित्रता का नाता वे सदा निबाहते थे पर अपने सिद्धांतों से कभी

गिरते न थे। उन्होंने हिंदी तथा संस्कृत में पद्य-रचना भी की है, पर वह अभी पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुई।

मिश्रजी का देहावसान संवत् १९६४ में चैत्र बदी ४ को कूँगड़ ग्राम में हुआ। इस ३६ वर्ष की आयु में से २५ वर्ष तो अध्ययन में निकल गए और देश की सेवा में वे केवल ११ वर्ष लगे रहे, पर इसमें भी उन्होंने वह कार्य किया जो अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। हिंदी साहित्य में पंडितजी ने उच्चकोटि के निबंध लिखकर उसके एक बड़े अभाव की पूर्ति की।

(२) सरदार पूर्णसिंह का जन्म सीमा प्रांत के एबटाबाद जिले के एक गाँव में सवत् १९३८ में हुआ था। इनके पिता एक साधारण सरकारी नौकर थे जो वर्ष के अधिकांश भाग में सीमा प्रांत प्रदेश की पहाड़ियों पर दौरा करते रहते और फसल तथा भूमि संबंधी कागज पत्रों की देखरेख किया करते थे। इसलिये घर-गृहस्थी की देखभाल इनकी माता किया करती थीं, जो एक साध्वी, धर्मप्राण और साहसी महिला थीं। जिस ग्राम मे सरदार साहब का जन्म हुआ और जहाँ ये लोग रहते थे वहाँ पठानों की बस्ती अधिक थी। इन्हीं के बीच इनकी बाल्यावस्था बीती। इनकी माता के ही उद्योग और अध्यवसाय से ये रावलपिंडी के एक स्कूल में बैठाए गए। वहाँ इनकी माता इनके साथ रहती थीं। ये स्कूल के तेज लड़कों में न थे, पर मन लगाकर पढ़ते-लिखते रहते थे और परीक्षाओं में सुगमता से उत्तीर्ण हो जाते थे। यहाँ से एंट्रेंस पास करके ये लाहौर

पढ़ने चले गए। वहाँ अभी ये ग्रेजुएट भी न हो पाए थे कि इन्हें जापान जाने के लिये एक छात्रवृत्ति मिली। अतएव संवत् १६५७ में ये जापान चले गए और वहाँ तीन वर्ष रहकर टोकियो की इम्पीरियल युनिवर्सिटी में इन्होंने व्यावहारिक रसायन-शास्त्र का अध्ययन किया। इन्हीं दिनों स्वामी रामतीर्थ जापान गए थे। उनसे सरदार साहब की भेंट हुई। उनके व्याख्यानों को सुनकर वे बड़े प्रभावित हुए और पूरे वेदांती बन गए। वे इस संबंध में स्वयं लिखते हैं—"इसी समय जापान में एक भारतीय संत से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गई। उन्होंने मुझे एक ईश्वरीय ज्योति से स्पर्श किया और मैं संन्यासी हो गया। मगर मैं देखता हूँ कि उन्होंने मेरे हृदय में और भी अनेक भाव, जिनके लिए भारत के आधुनिक साधु बहुत व्यग्र हैं, भर दिए, जैसे राष्ट्र का निर्माण, भारत की महत्ता को जाग्रत करना और कर्म में निरत रहना। यद्यपि मैं जीवन की व्यर्थ बातों में आकर्षित नहीं होता था, परन्तु जिसने मुझे आत्मज्ञान की इतनी बातें बताई थीं, उसकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं अपनी रसायन की पुस्तकें फेंक-फाँककर भारत की ओर चल दिया।" इस प्रकार ये स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी और अंतरंग शिष्य हो गए। यहाँ कुछ दिनों तक संन्यासी-वेष में रहकर इन्होंने गृहस्थाश्रम का पालन करना उचित समझा। इनका विवाह हो गया और ये देहरादून के 'इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट' में केमिस्ट के पद पर नियुक्त हो गए।

वहाँ इन्हें ५००) रु० मासिक वेतन मिलता था जो सबका सब साधु-संतों की सेवा और आतिथ्य में तथा अनेक लोगों की सहायता में लग जाता था। घर में इनकी स्त्री ही सब काम अपने हाथों से करती थीं। सरदार साहब अपने विषय के पूर्ण पंडित थे, पर इनके अधिकारी साहब से इनकी नहीं पटती थी अतएव इन्होंने वहाँ से इस्तीफा दे दिया और ग्वालियर जाकर कृषि-कार्य करने लगे।

जब ये देहरादून में नौकर थे तब एक ऐसी घटना हुई जिससे इनके जीवन में विशेष परिवर्तन हुआ। इस घटना का वर्णन पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने इस प्रकार किया है—

"उन दिनों प्रो० पूर्णसिंह पर रामतीर्थ के वेदांत की मस्ती का बड़ा गहरा रंग चढ़ा हुआ था। उस रंग में वे शराबोर थे। उनके आचार-विचार और व्यवहार में वही रंग झलकता था। वे उस समय स्वामी रामतीर्थ के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीत होते थे। खेद है, आगे चलकर घटनाचक्र में पड़कर वह रंग एक दूसरे रंग में बदल गया। देहली षड्यंत्र के उस मुकदमे में, जिसमें मास्टर अमीरचंद को फाँसी की सजा हुई, सबूत या सफाई में प्रो० पूर्णसिंह की तलबी हुई। मास्टर अमीरचंद स्वामी रामतीर्थ के अनुयायी भक्त थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ की कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। इस दृष्टि से मास्टर साहब प्रो० पूर्णसिंह के गुरुभाई थे। देहली में जाकर कभी कभी वे उनके पास ठहरते भी थे। उस मुकदमे में प्रो० साहब

की तलबी का यही कारण था। उस समय देश की दशा कुछ और थी और वह मुकदमा भी बड़ा भयंकर था। बहुत से निरपराध लोग भी उसकी लपेट में आ गए थे। प्रो० पूर्णसिंह के फंसने की शायद आशंका थी या नौकरी छूटने का डर था। यह देखकर प्रो० पूर्णसिंह के आत्मीय और मिलनेवाले, जिनमें सिक्ख संप्रदाय के सज्जनों की संख्या अधिक थी, घबरा गए। उन्होंने प्रो० पूर्णसिंह पर जोर दिया कि वे मास्टर अमीर-चंद और स्वामी रामतीर्थ से अपना किसी प्रकार का भी संबंध स्वीकार न करें। मजबूर होकर प्रो० पूर्णसिंह को यही करना पड़ा। उन्होंने अदालत में ऐसा ही बयान दिया कि स्वामी रामतीर्थ या उनके शिष्यों से मेरा किसी प्रकार का भी सबंध नहीं है। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह उस मुकदमे की आँच से तो बच गए पर उनके विचारों की हत्या हो गई। स्वामी रामतीर्थ के वेदांत सिद्धांत से उनका संबंध सदा के लिये छूट गया। प्रो० पूर्णसिंह को वैसा बयान देने के लिये मजबूर करनेवालों में एक सिक्ख साधु भी थे। उनकी संगति और शिक्षा ने प्रो० पूर्णसिंह की काया ही पलट दी। उन्होंने सब प्रकार से उस सिक्ख साधु को आत्मसमर्पण कर दिया, बिलकुल उसी के रंग में रँग गए।"

इस घटना का उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका रूप-रंग बदल गया। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि फारेस्ट इंस्टीट्यूट के प्रिंसपल से उनकी नहीं पटती थी। इस-

लिये उन्होंने नौकरी छोड़ दी और ग्वालियर चले गए। पर वहाँ भी न ठहर सके। वहाँ से पंजाब में जड़ाँवाला में जाकर उन्होंने कृषिकार्य आरम्भ किया। यहाँ उन्हें विशेष आर्थिक कष्ट रहा। उनका देहांत ३१ मार्च सन् १९३१ (संवत् १९८८) को हुआ।

सरदार पूर्णसिंह के लिखे पाँच हिंदी लेखों का पता अब तक चला है—(१) कन्यादान, (२) पवित्रता, (३) आचरण की सभ्यता, (४) मजदूरी और प्रेम, (५) सच्ची वीरता। इनमें से अधिकांश लेख 'सरस्वती' पत्रिका में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों की शैली भावप्रधान है। इनमें लाक्षणिकता के द्वारा उनकी भाषा की शक्ति और भावों की विभूति को अत्यंत मनोहर छटा देख पड़ती है। इस नई शैली के प्रवर्तक प्रो० पूर्णसिंह थे। अभी तक उनकी समकक्षता करने की ओर किसी की प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती। उसके लिए प्रकांड विद्वत्ता, भावों का प्रबल प्रवाह और अपने विचारों की तल्लीनता चाहिए। यद्यपि प्रो० पूर्णसिंह के पाँच ही लेखों का अब तक पता चला है, पर हिंदी निबंधों में वे एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। यदि प्रोफेसर पूर्णसिंह की सांसारिक स्थिति में घोर परिवर्तन न होता तो न जाने कितने रत्नों से वे भाषा के भांडार को भरते।

(३) पंजाब का काँगड़ा प्रांत प्राचीन काल में त्रिगर्त्त कहलाता था। वहाँ के सोमवंशी राजा जब मुलतान छोड़कर पहाड़ों में गए थे तो अपने साथ पुरोहितों को भी लेते गए थे। उसी

वंश के राजा हरिचंद्र ने गुलेर में राज्य स्थापित कर सन् १४२० में हरिपुर को अपना राज्यनगर बनाया था। उक्त राजा ने अपने कुछ पुरोहितों को "जडोट" ग्राम जागीर की भाँति दे दिया था, वही पुरोहित "जडोटिए' कहलाए। उन्हीं पुरोहितों के वंश में संवत् १८६२ में पंडित शिवरामजी का जन्म हुआ था जिन्होंने काशी आकर श्री गौड़ स्वामी तथा अन्य कई विद्वानों से व्याकरण आदि शास्त्रों का बहुत अच्छी शिक्षा पाई थी। उनकी योग्यता और विद्वत्ता से प्रसन्न होकर जयपुर के महाराज सवाई रामसिंह ने उन्हें अपने पास रख लिया था। जयपुर में पंडित शिवरामजी ने प्रधान पंडित रहकर सैकड़ों विद्यार्थियों को पढ़ाया और अच्छा यश प्राप्त किया था। संवत् १९६८ में उनका परलोकवास हो गया।

पंडित चंद्रधर शर्मा उक्त पंडितजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को जयपुर में हुआ था। बाल्यावस्था में इन्होंने अपने पिताजी से ही शिक्षा पाई थी। उसी समय इन्हें संस्कृत का विशेष अभ्यास कराया गया था। छोटी अवस्था में ही इन्हें संस्कृत बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया था। जिस समय ये पाँच छः वर्ष के थे, इन्हें तीन चार सौ श्लोक और अष्टाध्यायी के दो अध्याय कंठस्थ थे। नौ दस वर्ष की अवस्था में एक बेर इन्होंने संस्कृत का छोटा सा व्याख्यान देकर भारतधर्म्म महामंडल के कई उपदेशकों को चकित कर दिया था। प्रसिद्ध संस्कृत मासिक पुस्तक 'काव्यमाला' के

संपादक महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी की कृपा से इनके हृदय में देशसेवा, साहित्यप्रेम आदि कई उपयोगी विचारों के अंकुर उत्पन्न हुए थे।

सन् १८९२ में इन्होंने जयपुर के महाराज कालेज में अंगरेजी पढ़ना आरंभ किया। छः ही वर्ष में सन् १८९९ में ये प्रयाग-विश्व-विद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा में प्रथम हुए और कलकत्ता-विश्व-विद्यालय की इसी परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इनकी इस सफलता के कारण जयपुर-राज्य ने इन्हें एक स्वर्ण-पदक दिया था। इसी वर्ष इन्होंने महाभाष्य पढ़ना आरंभ किया। सन् १९०२ में इन्होंने जयपुर के मानमंदिर के जीर्णोद्धार में सहायता दी और सम्राट् सिद्धांत नामक ज्योतिष ग्रंथ के कई अंशों का बहुत योग्यतापूर्वक अनुवाद किया जिसके लिये इस कार्य के अध्यक्ष दो अँगरेज सज्जनों ने इनकी बहुत प्रशंसा की। उसी समय लेफ्टनेंट गैरट के साथ इन्होंने अँगरेजी में "दी जयपुर आबजर्वेटरी एंड इट्स बिल्डर" नामक ग्रंथ लिखा था। दूसरे वर्ष सन् १९०३ में ये प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रथम हुए और इसके लिए इन्हें जयपुर-राज्य से एक स्वर्णपदक और बहुत सी पुस्तकें मिलीं। ये वेद और प्रस्थानत्रय का भी अभ्यास कर रहे थे। इनका विचार दर्शन-शास्त्र में एम० ए० की परीक्षा देने का था। परंतु जयपुर-राज्य के आग्रह से खेतड़ी के स्वर्गवासी राजा साहब के संरक्षक बनकर इन्हें अजमेर के मेयो कालेज में जाना पड़ा। आपने वहाँ संस्कृत

के प्रधान अध्यापक पद को सुशोभित किया था। सन् १९१७ में आप जयपुर राज्य के समस्त सामंतों के अभिभावक बनाए गए। मेयो कालेज में काश्मीर के महाराज हरिसिंह, प्रतापगढ़ के नरेश रामसिंह, ठाकुर अमरसिंह, ठाकुर कुशलसिंह तथा ठाकुर दलपतसिंह इनके प्रिय शिष्यों में थे। सन् १९२० में ये काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष होकर आए। यहाँ इन्होंने दो वर्ष के लगभग कार्य किया होगा कि ११ सितंबर सन् १९२२ को, ३९ वर्ष की अल्प आयु में, इनका स्वर्गवास हो गया।

पंडितजी ने वैदिक साहित्य, भाषातत्त्व, दर्शन और पुरातत्त्व का अनुशीलन किया था और अँगरेजी तथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, पाली और बँगला, मराठी आदि भाषाओं से भी ये पूर्णतया परिचित थे। सन् १८९७ में इनका परिचय जयपुर के स्वर्गीय जैन वैद्यजी से हुआ था। उसी समय इनका झुकाव हिंदी की ओर हुआ। दोनों सज्जनों ने मिलकर हिंदी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार सन् १९०० में इन लोगों ने जयपुर का नागरी भवन स्थापित किया था। इन्होंने कई वर्ष तक "समालोचक" का संपादन भी किया था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से पत्रों में इनके लेख प्रायः निकला करते थे।

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के कार्यों से ये बहुत सहानुभूति रखते थे और बराबर उसके सदस्य रहे। जो काम ये करते

थे वह प्राय: चुपचाप ही करते थे, क्योंकि नाम की इन्हें उतनी इच्छा नहीं रहती थी। औरों का शिक्षक बनने की अपेक्षा ये स्वयं विद्यार्थी बनना अधिक पसंद करते थे। इसलिये इनके समय का अधिकांश पुस्तकावलोकन में ही बीतता था। इनके प्रिय शिष्यों में खेतड़ी के राजा जयसिंह थे जिनकी ज्येष्ठा भगिनी महारानी सूर्यकुमारी शाहपुराधीश राजाधिराज उम्मेदसिंहजी की पत्नी थीं। महारानी की छोटी भगिनी महारानी चद्रकुमारी प्रतापगढ़ राज्य की राजमाता हैं। इन दोनों बहनों का हिंदी पर अत्यंत प्रेम था। इन दोनों बहनों से पंडित चंद्रधर शर्म्मा का अत्यंत स्नेह था जिससे उनके पांडित्य के विकास में बहुत सहायता पहुँची। गुलेरीजी के सतत उद्योग से महाराज उम्मेदसिंह ने अपनी स्वर्गीया पत्नी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये बीस हजार रुपया दान देकर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा सूर्यकुमारी पुस्तकमाला की स्थापना कराई।

गुलेरीजी की लिखी तीन कहानियाँ 'सुखमय जीवन,' 'उसने कहा था' और 'बुद्धू का काँटा' प्रसिद्ध हैं। ये तीनों कहानियाँ भिन्न भिन्न परिस्थितियों के सजीव चित्र उपस्थित करती हैं जो गुलेरीजी की प्रतिभा की छाप लग जाने से अत्यंत मनोहर हो गई हैं। 'सुखमय जीवन' में एक नवयुवक का चित्र खींचा गया है जिसने अपनी विद्या के बल एक पुस्तक लिख डाली है पर जिसे अभी तक संसार का अनुभव नहीं हुआ है। परिस्थितियों ने उसे ऐसा घेरा है कि उसकी आँखें खुल

जाती हैं और वह वास्तविक सुखमय जीवन प्राप्त करने में समर्थ होता है। 'बुद्धू का काँटा' तो और भी मनोरंजक दृश्य उपस्थित करता है। एक नवयुवक विद्याध्ययन में लगा हुआ है, उसे संसार का कुछ भी अनुभव नहीं है। वह लोटे मे फंदा डालकर कुएँ से पानी खींचने में असफल होता है। गाँव की स्त्रियों के बीच में पड़ जाने से वह सिर उठाकर बात भी नहीं कर सकता ज्यों ज्यों उसका सांसारिक अनुभव बढ़ता जाता है, और उसका अल्हड़पन दूर होता जाता है और वह संसार का ज्ञान प्राप्त करता जाता है। परोक्ष रीति से आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों का दिग्दर्शन भी कराया गया है। भागवंती की वाक्पटुता देखकर स्कॉट की 'क्वीन मेरी' का स्मरण हो जाता है। 'उसने कहा था' तो गत महायुद्ध मे सिक्खों की वीरता, धीरता, दृढ़ता और कर्त्तव्यपरायणता का बड़ा ही मनोरम दृश्य उपस्थित करती है। ये तीनों कहानियाँ हिंदी-साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। इनकी बड़ी विशेषता यह है कि इनमें भिन्न भिन्न पात्रों की भावभंगी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार बड़ी सुंदर और अनुकूल भाषा में प्रदर्शित की गई है, जिससे कहानियों में सजीवता की पुट बड़ी ही सुन्दर चढ़ गई है। गुलेरीजी की लेखनी में बल था। वे हिंदी में हास, उपहास, व्यंग्य, करुण आदि भावों का ऐसा बढ़िया चित्र उपस्थित करते थे कि उन्हें पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। उनकी मीठी चुटकियाँ तो हृदय को चुभ जानेवाली होती हैं।

गुलेरीजी का स्वभाव बड़ा ही सरल, निष्कपट और आडंबर-हीन था। मित्रता के नाते को निबाहना ये खूब जानते थे। ये सनातन हिन्दू धर्म के सिद्धांतों के कट्टर अनुयायी थे।

यदि इस संग्रह की ओर हिंदी पाठकों का ध्यान गया और उन्हें यह रुचिकर सिद्ध हुआ तो अन्य भागों में दूसरे लेखकों के निबंधों का संग्रह करने की अभिलाषा है।

काशी
८-१२-४०

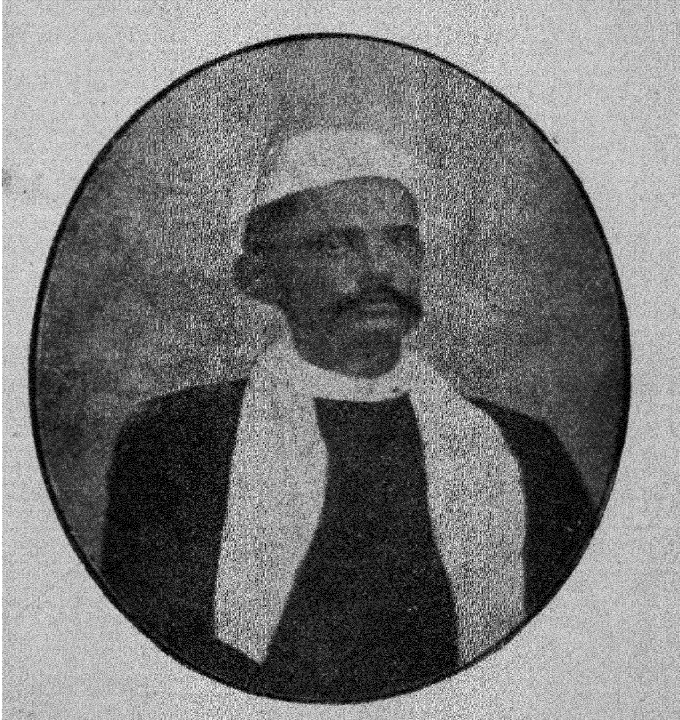
श्यामसुंदरदास

निबंधों की सूची

क—पंडित माधवप्रसाद मिश्र लिखित—

ख—सरदार पूर्णसिंह लिखित—

ग—पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी लिखित—



स्वर्गीय पंडित माधवप्रसाद मिश्र

पंडित माधव मिश्र

निबंध-रत्नावली

पहला भाग

(१) श्रीपंचमी

इस बात को तो अनेक जन जानते होंगे कि हिंदुओं की प्रत्येक बात में धर्म्मभाव प्रतिष्ठित है, यहाँ तक कि उनका आमोद-प्रमोद वा हँसी-दिल्लगी भी भगवत्-संबंध से खाली नहीं है। कोई सप्ताह भर में एक बार निराकार को बाहर देखकर अपने सिर से एक बला टाल देता है और कोई दिन भर में पाँच बार के पंचांग पाठ पर अभिमान करने लगता है कि हमारे बराबर उपासक जन एक भी नहीं। किंतु यदि निरपेक्ष भाव से दुराग्रह छोड़कर हिंदुओं के सनातन धर्म्म की आलोचना की जाय तो यह सहज ही में निश्चय हो जायगा कि इस जाति की तुलना दूसरी जाति धर्म्मभाव में नहीं कर सकती। हमारे दूरदर्शी प्राचीन महर्षि हमारे लिये अमृत ही नहीं छोड़ गए वरंच विष में भी "अमृत" मिलाकर हमें निर्भय कर गए हैं! यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम शास्त्ररहस्य व धर्म्मतत्त्व को न जानकर अमृत को भी विष समझ त्याग रहे हैं।

माघ सुदी पचमी का नाम 'वसंतपंचमी' है और इसका दूसरा नाम 'श्रीपंचमी' भी है। वसंतपंचमी नाम होने का यह कारण है कि इसी दिन से "वसंतोत्सव" का प्रारंभ होता है। यों तो वसंत ऋतु में चैत्र. वैशाख इन दो महीनों की गणना है, किंतु हमारे यहाँ के सहृदय पुरुष इसी दिन से वसंत को अलापने लग जाते हैं। इसी दिन से कुछ और ही प्रकार का पवन चलने लगता है—और ही प्रकार के मन हो जाते हैं। इसी दिन भगवान् मुरलीमनोहर पर गुलाल चढ़ाकर पहले पहल वसंत गाया जाता है। इसी दिन से डफ बचने लगता है। 'ऋतुराज" के स्वागत की धूमधाम इसी दिन से आरंभ हो जाती है। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि इस उत्सव में भगवद्भजन ही की प्रधानता है।

दूसरा नाम इसका "श्रीपचमी" है। इस नामकरण का कारण हमारे शास्त्र में यह* लिखा है कि इस पवित्र दिन से

---

* "इमां ब्रह्मपुराणोक्तां या करोति च पंचमीम्'
लक्ष्मीसमा भवेन्नारी इह लोके परत्र च॥
विधानं शृणु धर्मज्ञ! यादृशी पंचमी मम।
वर्षाणि षट् प्रकर्तव्या परमप्रीतिमानसा॥
शुद्धकाले तु संप्राप्ते पंचमी या शुभा भवेत्।
तस्यामारभ्य कर्तव्यं व्रतं पापप्रणाशनम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

पंचमी का व्रत प्रारंभ होता है। भगवती लक्ष्मी देवी ने नारद मुनि को उपदेश किया है कि "जो सौभाग्यवती स्त्री इस दिन से व्रत प्रारंभ कर छः वर्ष तक प्रति मास पंचमी का व्रत करेगी वह मेरे समान सुखी और पतिवल्लभा होगी।'

इस दिन जगदंबा वीणापाणि सरस्वतीजी का "सारस्वतोत्सव" करना लिखा है। दिन के प्रथम भाग अर्थात् पूर्वाह्न काल में पुष्प-धूपादि से सरस्वती के षोडशोपचार पूजन और 'दावात कलम' के अर्चन का विधान है। यही वह दिन है जिसकी प्रतीक्षा भारत के कवि जन वर्ष दिन से किया करते हैं। इस दिन जिस शिष्य को उपदेश दिया जाता है वह कृतार्थ होता है। गुरुकृपा से जिसको इस दिन 'सरस्वती कवच' मिल जाता है वह असाधारण बुद्धि-संपन्न होता है। किंतु अब वह समय नहीं है। भारतवर्ष के मूर्ख नास्तिक-प्राय पुरुष अब इस दिन का महत्त्व भूलते जाते हैं।

जब कोई विचारवान् पुरुष कुछ काल के पश्चात् अपनी जन्मभूमि को देखकर प्रसन्न होता है और उसके दर्शन मात्र से

पंचम्यां पूजयेल्लक्ष्मीं पुष्पधूपान्नवारिभिः।
मस्याधारं लेखनीञ्च पूजयेन्न लिखेत्ततः ॥
माघे मासि सिते पक्षे पंचमी या श्रियः प्रिया।
तस्याः पूर्वाह्न एवेह कार्य्यः सारस्वतोत्सवः ॥

(भविष्योत्तर)

एक एक करके वे सब बातें उसे स्मरण करने लगती हैं, जो वह हो चुकी हैं, वह माता-पिता की असाधारण कृपा, वह लड़कपन का अमायिक चरित्र, वह समवयस्क मित्रों की सरस बातें वह पाठशाला का लिखना-पढ़ना, सहपाठियों से लड़ना-झगड़ना और गुरुजनों की प्रेमपरिपूर्ण ताड़ना, जब याद आती हैं तब हृदय की जैसी दशा होती है वह हृदय ही जानता है। यदि दुर्भाग्यवश स्नेही मित्र और बंधुजनों से वियोग हो गया हो, तो वह देश वा स्थान और भी काटने लगता है। उस समय सुख होता है कि दुःख; यह तो भुक्तभोगी ही जानें, किंतु इस बात को हम भी कुछ जानते हैं कि केवल दुःख ही दुःख नहीं होता, कुछ सुख भी होता है। क्योंकि देखा गया है कि अपने मृत पुरुषों के श्मशान वा समाधिस्थान के देखने से अश्रुपात होता है, कुछ दुःख भी होता है, किंतु सुखशांति न होती तो दर्शन की प्रवृत्ति ही क्यों होती ?

जैसे देश वा स्थान का प्रभाव मनुष्य के चित्त पर अच्छा वा बुरा अवश्य पड़ता है, ठीक वैसे ही काल का भी प्रभाव मानव मंडली पर व्यर्थ नहीं पड़ता। चाहे काल का महत्त्व हमें निज बुद्धि-दोष के कारण ज्ञात न हो परंतु इसमें संदेह नहीं कि बड़े बड़े तार्किक और दार्शनिक पंडित इस विषय का मंडन कर गए हैं कि साधन-सामग्री में काल वा समय भी एक मुख्य वस्तु है। चाहे खेत कैसा ही अच्छा हो, जल का भी अभाव न हो और किसान भी कृषिकार्य में कुशल हो, तथापि बिना

मौसम के खेती कदापि न लगेगी। इस कारण कालपुरुष के साथ काल की तुलना शास्त्रकारों ने की है। यहाँ इस विषय का विचार नहीं करना है कि काल क्या वस्तु है और कार्य मात्र के प्रति उसकी कारणता क्यों स्वीकार की गई है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि हमारे शास्त्रकारों ने प्रत्येक कार्य का विधान देश, काल और पात्र के अनुसार किया है, जो युक्तियुक्त होने से सर्वथा उपादेय है। दिन में क्यों जागना और रात में क्यों सोना इत्यादि प्रश्न उठा स्वभावसिद्ध और समयानुकूल कार्यों में यदि कोई दुराग्रही कुछ हेरफेर करना चाहे तो कर भी सकता है, परंतु इसमें कष्ट और हानि के अतिरिक्त लाभ की संभावना नहीं है। होली, दिवाली आदि वार्षिकोत्सवों वा त्योहारों पर जो कुछ क्रिया-कलाप [illegible] यहाँ होता है एवं शास्त्र ने जिसका विधान भी किया है, उसका ठीक वही काल है, उस काल में कालोचित कार्य करने पर मनुष्य उतना ही लाभवान् होता है जितना मौसम पर खेती करनेवाला किसान।

श्रीपंचमी वा वसंतपंचमी भी हमारा एक बड़ा त्योहार है। केवल इसी कारण से नहीं कि इस दिन देव मंदिरों में वसंत का खूब ठाठ जमता है, प्रत्युत इसलिये भी यह दिन अधिक माननीय माना गया है कि इस दिन उस महाशक्ति का महोत्सव होता है जिसके बिना बड़े बड़े सूर-सामंतों की बड़ी भारी सेना बात की बात में एक ही निर्बल पर बुद्धिमान् पुरुष से परास्त हो गई, जिसके बिना राजाधिराज भिक्षुक बन गए और तेजस्वी निस्तेज

हो गए। उसी ब्रह्मस्वरूपा सनातनी शक्ति महामाया सरस्वती देवी के आराधन का यह पवित्र दिन है।

गौतम, कणाद, कपिल और व्यास आदि के आनंद का यही दिन है। कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों का यही उपास्य समय है। विक्रम और भोज के समय में इस दिन की धूमधाम का ठिकाना न था, क्योंकि सरस्वती की सुसंतान का यह महापर्व है। सच्चे सारस्वतों का यह "सारस्वतोत्सव" सर्व्वस्व है। भारत में अब कितने महापुरुष इस दिन की महिमा समझनेवाले हैं? कितने पुरुष हैं जो यह समझते हों कि तेज तथा प्रताप का कारण शुष्क वीरता नहीं है, सरस्वती-प्रदत्त बुद्धिमत्ता है। पुराणों में लक्ष्मी का वाहन उलूक और सरस्वती का हंस लिखा है। क्या इससे हमको यह शिक्षा नहीं मिलती कि लक्ष्मी के कृपापात्र प्रायः घोंघावसंत होते हैं जिनको दिनमणि के प्रकाश में सूझता तक नहीं और सरस्वती के दयापात्र वे महापुरुष होते हैं जिनमें 'दूध का दूध और पानी का पानी' करने की असाधारण सामर्थ्य विद्यमान है, जिनको भूत भविष्य और वर्तमान के महत्त्व समझने की महाशक्ति परमात्मा ने दी है और जो सरस्वती की पूर्ण कृपा से महाशक्तिमान् पद के अधिकारी हैं।

सरस्वती की जिन पर कृपा है, वे ही विधाता के स्नेहभाजन होते हैं, महासरस्वती की अपर मूर्ति महालक्ष्मी का उन्हीं के यहाँ आसन जमता है। जरा विचार कर तो देखिए, प्रबल पराक्रांत महावीर महाराष्ट्र पानीपत के पिछले युद्ध में नादिरशाह से क्यों

परास्त हुए। पलाशी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला पर जयश्री क्यों अप्रसन्न हुई और मुष्टिमात्र सेना से लार्ड क्लाइव ने क्यों विजय पाई? क्या कभी विचार कर देखा है? देखने पर विदित होगा जो सरस्वती के कृपापात्र थे वे ही यथार्थ में बलवान् सिद्ध हुए और वे ही युद्धविजयी हुए।

पाठक! श्रीपंचमी के दिन भगवती बीणापाणि के सामने बैठकर उन महापुरुषों का एक बार ध्यान करना चाहिये जिनका पार्थिव शरीर सहस्रों वर्षों से संसार में नहीं, किंतु जिनका यशरूपी दिव्य विग्रह ज्यों का त्यों बना है और ज्ञात होता है 'आचंद्रार्कदिवाकर' बना रहेगा।

आज दिन लोगों को उन महाप्रतापी महावीर राजाधिराजों का नाम तक याद नहीं रहा, जिनके नाम बड़े बड़े ऊँचे जयस्तंभों पर लोहलेखनी से पाषाण में खोदे गए थे; वे ऊँचे ऊँचे स्तूप वा मीनार जो किसी समय साहंकार दंडायमान थे, अपने यश के साथ भूगर्भ में समा गए किंतु उन सरस्वती के पात्रों का नाम मिटानेवाला कौन है जो औरों का नाम भी अमर कर गए हैं।

वाचकवृंद! हमारे पूर्वजों ने जिस प्रकार दशहरे का त्योहार शस्त्रपूजन के निमित्त नियत किया है, जिससे कि भारत के वीर पुरुषों के अतीत गौरव तथा युद्धलीला का स्मरण होता है उस प्रकार 'श्रीपंचमी' भी पूर्व्व गौरव का स्मारक है। भेद इतना ही है कि इस दिन के शस्त्र लेखनी और मसीपात्र हैं, तथा

वीर है व्यास आदि महर्षियों का स्मरणीय विद्यावैभव। पिछली विद्या से वर्तमान विद्या के मिलान करने का यही दिन है। इसे दावात कलम की जड़पूजा समझकर परित्याग न करना चाहिए। यह अलौकिक प्रतिभा की पूजा है जो गुदगुदे जी-वाले पर विलक्षण असर करती है।

पाठक! श्रीपंचमी तो आ गई किंतु इस दिन भारत में माता सरस्वती की पूजा कौन करेगा? यही चिंता है। क्या हम लोग इस योग्य रह गए हैं कि भगवती के सामने इस दिन पवित्र लेखनी का स्पर्श करें? जो लोग जान बूझकर दुराग्रह और द्वेष के कारण धर्म-प्रचारक साधु सच्चरित्र महानुभावों पर अपशब्दों की वृष्टि कर और निज नीच हृदय का उद्गार निकालकर वाणी की अप्रतिष्ठा कर रहे हैं, क्या वे लोग इस दिन लेखनी की पूजा कर सकते हैं? परदारलंपट को जितेंद्रिय, धूर्तप्रवंचक को संसारत्यागी निर्लोभ संन्यासी, धर्म और देश के संहारकर्ता उदरसर्वस्व को देशहितैषी धर्मात्मा, और गंडमूर्ख को सुपंडित सुलेखक सुवक्ता लिखना जिनके बाएँ हाथ का खेल है, जो सामान्य लाभ के कारण अपनी पेटभरी आत्मा के विरुद्ध लिखने में नेक भी संकोच नहीं करते, उन्हें लेखनी वा सरस्वती पूजने का क्या अधिकार है? जो रुपए लेकर पतित से पतित पुरुष को भी धर्मात्मा और वर्णसंकर वा शूद्र को क्षत्रिय बना सकते हैं, धर्मव्यवस्था के नाम से अधर्म और रक्त से भरी व्यवस्था दे सकते हैं और जो एक दरिद्र निःसंबल पर, धर्मात्मा पुरुष के

गिड़गिड़ाने और हाहा खाने पर भी बिना टका लिए चार पाँच पंक्ति लिखना मूर्खता समझते हैं, उन अर्थपिशाच पापियों का इस सारस्वतोत्सव में लेखनी-पूजन का क्या अधिकार है ? वे शारदा के कुपुत्र माता सरस्वती के दरबार में किस मुँह से आ सकते हैं ?—यह आप ही सोच लें।

इसमें संदेह नहीं यदि हमारे कार्य्यों की छानबीन की जाय, तो हम इस योग्य कदापि नहीं ठहर सकते कि सरस्वती देवी को 'मा' कहकर पुकारें, तथापि 'मा' अंत को मा ही है। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। इसलिये आइए पाठक श्रीपंचमी के वार्षिकोत्सव में सब पापों की क्षमा माँग कर जगदंबा से प्रार्थना करें कि—

"वेदाः शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत्।
न विहीनं त्वया देवि ! तथा मे सन्तु सिद्धयः ॥
लक्ष्मी मेधा धरा पुष्टिः गौरी तुष्टिः प्रभा धृतिः।
एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्मां सरस्वति ! ॥

आर्य-वंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्पदलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि, 'वह सब भगवान् महाकाल के महापेट में समा गया।' निस्संदेह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान महाकाल के महापेट में समा गया।'

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब वह प्रवाह वा प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र से बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ कुछ चिह्न वा नाम बना हुआ है। यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

जहाँ महा-महा महीधर लुढ़क जाते थे और जहाँ अगाध अतलस्पर्श जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है।

जहाँ के महाप्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है, जिससे कभी कभी थोड़ा सा भूभाग प्रकाशित हो जाता है! पाठक! जरा विचार कर देखिए ऐसी अवस्था में वहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष, की सुखशांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और 'राम नाम' ही अब हमारे अंधे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रतिदिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहाँ भी एक प्रबल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसके पुनः प्रबल होने की आशा परित्याग कर देनी चाहिए। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है और प्रतिकूल वायु में टिमटिमा रहा है वह कब तक सुरक्षित रहेगा? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किंतु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे तो क्या सामर्थ्य है कि कोई उसे रोक सके? वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुंधरा के हृदय का प्रवाह है जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निस्संदेह उसकी दशा शोचनीय है और उससे अन्धकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह प्रदीप वही प्रदीप है, जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्तिभाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्मांड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है, जिसका प्रकाश सूर्य्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्नि देव है और उपनिषद् जिसके लिये पुकार रहे हैं कि—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

वह प्रदीप भगवान् रामचंद्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि राम नाम की तुलना क्षुद्र प्रदीप के साथ करना अनुचित है, तथापि यह नाम का दोष नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि उनका भक्तिभाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमंडल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगंत-व्यापिनी थी, कभी हमारे जयजयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े बड़े सम्राट् हमारे कृपाकटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा

नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेश-भक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द का अभाव न था, गुरुभक्ति और पितृभक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्टपालन और दुष्टदमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें,—कभी हम भी ऐसे थे कि जगत् का लोभ हमें अपने कर्तव्य से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है!

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मंद भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसंधान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा! सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिये उन्होंने अपने बुद्धिकौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम' नाम का दृढ़ संबंध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म को—अधिक क्या जो अपने स्वरूप तक को—भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है! और जब तक 'राम' का स्मरण है तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्रीरामचंद्रजी की पितृभक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृभक्ति, भरतजी का स्वार्थत्याग, वसिष्ठ-जी का प्रताप विश्वामित्र का आदर, ऋष्यशृंग का तप, जानकीजी

का पातिव्रत, हनुमान जी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्तव्य किसको स्मरण नहीं है ? जो अपने "रामचंद्र" को जानता है वह अयोध्या, मिथला को कब भूला हुआ है ? वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब राम नाम का स्मरण होता है और 'रामलीला' देखता है, तभी उसके जी में यह ध्यान आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिए, राम आदिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए।'

बस, इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'राम नाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है ! भगवान् रामचंद्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्मांड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है ? मनुष्य कैसा ही पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अंत को मनुष्य ही है। इसलिये आर्य-वंश में राम ही का जयजयकार हुआ और होता है और जब तक एक भी हिंदू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा।

हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में, सर्वत्र 'राम नाम' का संबंध है। इस संबंध को दृढ़ रखने के लिये ही प्रति वर्ष रामलीला होती है। मान लीजिए कि वह सभ्यता-

भिमानी नवशिक्षितों के नजदीक खिलवाड़ है. वाहियात और पोपलीला है पर क्या भावुकजन भी उसे ऐसा ही समझते हैं? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही। जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि परपद-, दलित आर्य समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्यानंदन आनंदवर्द्धन भगवान् रामचंद्र जी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है।

आठ सौ वर्षों तक हिंदुओं के सिर पर कृपाण चलती रही, परंतु 'रामचंद्र जी की जय' तब भी बंद नहीं हुई। सुनते हैं कि औरंगजेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिंदुओं! अब तुम्हारे राजा रामचंद्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिये रामचंद्र की जय बोलना राजद्रोह करना है।' औरंगजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने रामभक्त हिंदुओं का रक्तपात किया सही, पर 'रामचंद्रजी की जय' को न बंद कर सका। कहाँ हैं वे अभिमानी लोग? अब रामचंद्रजी के विश्वब्रह्मांड को और औरंगजेब की मृण्मय समाधि (कबर) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है? कहाँ राजाधिराज रामचंद्र और कहाँ एक अहंकारी क्षणजन्मा मनुष्य?

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरण योग्य समझते हैं एवं रामचंद्रजी को भुक्ति-मुक्ति-दाता मान रहे हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिनकी

युक्तियों का बल केवल इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं, वरन् केवल किसी घटना और अवस्था विशेष का रूपक बाँधकर लिखे गये हैं।" निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले यदि वेबर साहब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मन में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न कह-कर हिंदी के प्रातःस्मरणीय सुलेखक पंडित प्रतापनारायण मिश्र के लेख को उद्धृत करते हैं—

आहा यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक संबंध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी में नहीं है। जो रमण करता हो अथवा जिसमें रमण किया जाय उसे राम कहते हैं। ये दोनों अर्थ राम नाम में पाये जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में सदा सर्वदा रामजी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है। इस बात का प्रमाण ढूँढ़ने कहीं जाना नहीं होगा। आकाश में रामधनुष (इंद्र-धनुष), धरती पर रामगढ़ रामपुर रामनगर रामगंज रामरज रामगंगा रामगिरि (दक्षिण में), खाद्य पदार्थों में रामदाना रामकीला (सीताफल) रामतरोई रामचक्र, चिड़ियों में रामपाखी (बंगाली में मुरगी), छोटे जीवों में रामबरी (मेढ़की), व्यंजनों में रामरंगी

(एक प्रकार के मुँगौड़े) हैं। जहाँगीर ने मदिरा का नाम रामरंगी रखा था 'कि रामरंगिए मा नश्शाए दिगर दारद।' कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुन के कौन न मान लेगा कि जल स्थल भूमि आकाश पेड़ पत्ता कपड़ा लत्ता खान-पान सबमें राम ही रम रहे हैं।

मनुष्यों में रामलाल रामचरण रामदयाल रामदत्त रामसेवक रामनाथ रामनारायण रामदास रामदीन रामप्रसाद रामगुलाम रामबख्श रामनेवाज, स्त्रियों में भी रामदेई रामकिशोरी रामपियारी रामकुमारी इत्यादि कहाँ तक कहिए जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं। जिधर सुनिए राम ही नाम सुन पड़ता है। व्यवहारों में देखिए लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत, जनेऊ, व्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम राम', दुःख में 'हाय राम !', आश्चर्य अथवा दया में 'अरे राम', महाप्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा, स्त्री का विशेषण रामा (रामयति), मदिरा का नाम रम (पीते ही नस नस में रम जानेवाली), यही नहीं मरने पर भी 'राम राम सत्य है' उसके पीछे भी गयाजी में रामशिला पर श्राद्ध! इस सर्व-व्यापकता का क्या कारण है? यही कि हम अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे। कोई बात कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी, सर्वस्थान में रमण करनेवाले को भूल जायँ। अथच रामभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानंदवर्द्धन, जानकी

जीवन, अखिलार्य-नरेंद्र-निषेवित-पाद-पद्म, महाराजाधिराज माया-मानुष भगवान् रामचंद्रजी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे ! इस बात का वर्णन तो फिर कभी करेंगे कि जो हमारे दशरथ राजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, अवश्य प्रेम-राज्य में पैठने लायक नहीं हैं। पर यहाँ पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्यवंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं ! यहाँ तक कि सहृदय समाज को 'रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किंचित् संकोच नहीं होता ! इसका कारण यही है कि राम के रूप गुण स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम भक्ति सहृदयता अनुराग का महासागर न उमड़ उठता हो ! आज हमारे यहाँ की सुख-सामग्री सब नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्षों से हम दिन दिन दीन होते चले आते हैं पर तो भी राम से हमारा संबंध बना है, उनके पूर्वपुरुषों की राजधानी अयोध्या को देखकर हमें रोना आता है। हाय ! जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था वह आज फैजाबाद के जिले में एक गाँव मात्र रह गया है। जहाँ एक से एक वीर धार्म्मिक महाराज राज्य करते थे, वहाँ आज वैरागी तथा थोड़े से दीन-दशा-दलित हिन्दू रह गए हैं !

जो लोग प्रतिमापूजन के द्वेषी हैं, परमेश्वर न करे, यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा ? यो कैसे

मंदिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे हाड़ हैं ! पर हाँ रामचंद्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है, उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है ! हमारे इतिहास को हमारे दुर्दैव ने नष्ट कर दिया। यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजनों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी। पर भगवान् रामचन्द्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र (जो बचे बचाए मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिले) से सर्वोपरि श्रेष्ठ, महारसपूर्ण, परम सुहावन है ! इसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे, अथच यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं ! हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें अपना लेंगे। वानरों तक को तो उन्होंने अपना मित्र बना लिया, हम मनुष्य को क्या वे भृत्य भी न बनावेंगे ? यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण से सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं। हमारे कविवर वाल्मीकि ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात न छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रखी है कि थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले भी उसे समझ सकते हैं। यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान् तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिन्दी जाननेवाले भी समझ सकते हैं; सुधा के समान काव्यानंद पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्वप्रकार हितसाधन कर सकते हैं।

केवल मन लगाकर पढ़ना, प्रत्येक चौपाई का आशय समझना तथा उनके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा। रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है। यदि विचार-शक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकता और सरसता का कारण क्या है, तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्यशक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना? पर यह बात भी अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है, फिर इन सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता। वे जब संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्तचित्त होते हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उस पर बड़े बड़े कवीश्वरों ने श्रद्धा की है, और अपनी पूरी कविता-शक्ति उस पर निछावर करके हमारे लिये ऐसे ऐसे अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं। इस हीन दशा में भी काव्यानंद के द्वारा परमानंद पा सकते हैं। यदि चाहें तो संसार और परमार्थ दोनों बना सकते हैं। खेद है यदि हम भारत-संतान कहाकर अपने घर के इन अमूल्य रत्नों का आदर न करें, और जिनके द्वारा हमें ये महामणि प्राप्त हुए हैं उनका उपकार न मानें तथा ऐसे राम को, जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा, गौरव एवं मनोविनोद की नींव थी अथच जो हमारे लिये गिरी दशा में भी सच्चे अहंकार का कारण और

आगे के लिये जिससे सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायँ, अथवा किसी के बहकाने से राम नाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तो कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है। पाठक! यदि सब भाँति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा सब ठौर सब दशा में राम का ध्यान रखो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो। बस इसी में तुम्हारे लिये सब कुछ है। इस 'रकार' और 'मकार' का वर्णन तो कोई त्रिकाल में कर ही नहीं सकता—कोटि जन्म गावें तो भी पार न पावेंगे। इससे इस विषय को अधिक न बढ़ाकर फिर कभी इस विषय पर लिखने की प्रतिज्ञा करने एवं निम्नलिखित आशीर्वाद के साथ लेखनी को थोड़े काल के लिये विश्राम देते हैं, बोलो

राजा रामचंद्रजी की जय!

कल्याणानां निधानं, कलिमलमथनं, पावनं पावनानाम्,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः, सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां, जीवनं सज्जनानाम्,
बीजं धर्म्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां, भूतये रामनाम॥

३—सब मिट्टी हो गया

"चाचा! चाचा! सब मिट्टी हो गया! जो खिलौना आप दिल्ली से लाये थे, उसे श्रीधर ने तोड़ फोड़कर मिट्टी कर दिया!"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म-महामंडल का "मंतव्य"-पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानों कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा है। इसका कारण यह था कि मेरी इस सभा पर बहुत दिनों से विशेष भक्तिभावना हो रही थी, क्योंकि यह महासभा मारवाड़ी बाबुओं के बगीचे की सभा न थी, जिसमें नाच-कूद के शौकीन, लड्डू-कचौरी के यार केवल भोजन-भट्ट मित्रों का स्वागत-समागम ही बड़ी वस्तु समझी जाती है, और न यह 'थियेटर' के राजा इंद्र का अखाड़ा था, जिसका उद्देश्य यह होता है कि थोड़ी देर के लिये नयनाभिराम मनोहर दृश्य दिखाकर अर्थोपार्जन वा कौतुकप्रिय अमीरों को खुश किया जाय!

यह सभा सनातन धर्म की सभा थी। जननी जन्मभूमि की सुसंतान की महासभा थी। यह वह सभा थी जिसके अग्रगंता एक दिन धन को धर्म पर वार चुके थे, प्रतिष्ठा को कर्तव्य के हाथ बेच चुके थे, इंद्रियासक्ति को स्वयं ही दबा चुके थे। इनकी शत्रुता मित्रता धर्म पर स्थित थी, व्यवहार पर नहीं। इंद्रियलोलुप बड़े आदमियों पर इनकी घृणा थी और धर्मात्मा दरिद्र भी इन्हें प्यारे थे।

यह सभा वही विख्यात सभा थी जो बारह वर्षों से भारतवर्ष में सनातनधर्म और संस्कृत विद्या के प्रचार करने का बीड़ा उठाए फिरती है। इसलिए इस महासभा से पुराने वृद्ध पंडित और धर्मात्मा जन आशा करते थे कि यह देश के अनाचार दुराचार आदि की तो निवृत्ति करेगी और सदाचार की प्रवृत्ति। इससे धर्म की जय होगी और साथ ही धमप्रतारक लंपटों को भय हो॰ा। बालक सुशिक्षित बनेंगे और स्त्रियाँ निंदित न होंगी। मूर्खों की धृष्टता बढ़ने न पावेगी और विद्वानों का तिरस्कार न होगा। पापियों की प्रतिष्ठा न होगी और धार्मिकों का उत्साह बढ़ेगा।

इस महासभा में अब की बार दरभंगा और अयोध्या के महाराज बहादुर का बहुमूल्य और अन्यर्थ शुभागमन सुनकर यह नतीजा मेरे सरल अंतःकरण ने पहले ही से निकाल दिया था कि इस बार केवल पुराने प्रस्तावों का पिष्टपेषण वा मंतव्य पत्र का शुष्क पाठ मात्र ही न होगा, कोई सच्ची उद॰रता का मूर्तिमान् उदाहरण भी दृष्टिगोचर होगा। अतएव मैं मंतव्यपत्र को पाकर, उत्कंठित हो, मंतव्य के मर्म पर ध्यान दे रहा था अकस्मात् ऊपर लिखे हुए शब्द कान में पहुँचे, जिनसे एक बार ही मेरा ध्यान भंग हो गया।

आँख उठाकर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे बड़े भाई का बड़ा लड़का है। इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह

देखकर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना टूट गया है, इसलिये बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बनाकर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। इस समय हँसकर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किन्तु यह सोचकर चुप रह गया कि ऐसा करने से कहीं बालक को ढिठाई को सहारा न मिले और धमकाना इसलिये उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनन्द में विघ्न करने से क्या मतलब। खैर! दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटाकर हरदयाल से कहा—'श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज से कोई खिलौना न देंगे'। हरदयाल अपने इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ गया।

घर फिर निःस्तब्ध हो गया, किंतु अंतःकरण निःस्तब्ध नहीं हुआ। 'सब मिट्टी हो गया है,' इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर दिया। अच्छा, मैं हँसकर बालक से क्या कहना चाहता था, वह तो सुन लीजिए। कहना चाहता था, 'जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा, कि जो नष्ट वा निकम्मा हो जाता है, उसी का नाम है मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है! मिट्टी के घर को कोई मिट्टी नहीं कहता, किंतु घर के गिर जाने पर लोग कहते हैं कि 'घर' मिट्टी हो गया! 'हमारा यह मकान, सब मिट्टी का बना हुआ है। दीवारें तो मिट्टी की हैं ही पर ईंटें

भी तो केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या हैं ? पर अब किसी से पूछिए कोई इसे मिट्टी नहीं कहेगा, गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया'।

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं। और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब विफल हो जाय, तब कहेंगे कि "सब मिट्टी हो गया"। किसी का धन खो जाय, मान मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे—"सब मिट्टी हो गया।" इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है ? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है ? यदि किसी की वस्तु अच्छे भाव पर बिकती नहीं है, तो कहेंगे 'मिट्टी की दर पर माल जा रहा है' वह माल चाहे बुरा के बराबर—कितना ही निकम्मा, कितना ही बुरा-क्यों न हो; निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरंत उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है ! क्या सचमुच मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है ? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है और हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं ? भगवती वसुंधरे ! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है !

अच्छा, मा ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रखा ? यह नाम तो प्राचीन समय का नाम है। मालूम होता है

यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन आदि सुसंतानों का दिया हुआ है। केवल यही नाम क्यों, वसुंधरा, वसुमती, वसुधा, विश्वंभरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं। तुम्हें वे तुम्हारे सुपुत्र न जाने कितने आदर, कितनी श्लाघा और कितनी श्रद्धा से पुकारते थे। क्यों माता, तुम्हारे पास ऐसा धन क्या धरा है जिससे तुम वसुंधरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो? कहो तो, ऐसा सर्वोत्तम रत्न क्या है जिससे तुम 'वसुमती' कहला रही हो? मा! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अंधकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रखे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं? मा! भीष्म, द्रोण, बलि, दधीचि, शिवि, हरिश्चंद्र इनके सदृश रत्न और कहाँ हैं? अनसूया अरुन्धती, सीता, सावित्री, सती, दमयन्ती इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गए। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं; मानों वे एक बार ही लोप हो गए हैं! यदि कहीं लीन हुए होंगे, तो वे तुम्हारे ही अंग में लीन हुए हैं। जननी! जरा देख तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं। मा! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकती है? मा! आकाश के चंद्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं? मा! एक बार तो अभागी संतान को उनके दर्शन कराओ!

मा ! देखें उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्मदेव का पतनक्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया ! कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ! उज्जयिनो की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है ! अहा ! अहा ! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? मा ! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न के कण हैं वे अमूल्य हैं, क्षयरहित हैं और अतुल हैं ।

जगदंबा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पतिनिंदा को सुनकर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे सभी क्षेत्र तो वर्तमान हैं । मा ! फिर पैर कहाँ रखा जाय ? वृंदावन विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है । मा ! किस सहृदय के किस सचेतन के कान में वह वंशी नहीं बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है मा ! वियोगिनी व्रजबालाओं की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनंत प्रेमधारा ही मानो यमुना के 'कल कल" शब्द के व्याज से 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकारकर इस धारा को सजीव कर रही है । यह देख, अभागिनी जनकतनया की दंडकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि, भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्गद नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है ।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुंतला ने जो कुछ दिन के लिये राजरानी हुई थी एवं अंत में उस र जराजेश्वर पति से

अपमानित, उपहासित होकर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकाई और त्यागी गई कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह विकल कंठ से जो तुमसे कहा था—'भगवति वसुंधरे ! देहि मे अंतरम्' वह आज भी कानों में गूँज रहा है। मा ! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

मा ! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं है, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं ?

"कोटि कोटि ऋषि पुरुष तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर ॥"

इसलिये तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है। रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कांति, शक्ति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है ! तुम्हारे प्रत्येक रेणु में धैर्य, गाम्भीर्य, महत्त्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शांति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अन्धे हैं, इन सबको देखकर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्यकृत्य प्रातःकृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हा ! मा ! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते—

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुंधरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥

प्रभात के समय क्या कहकर तुम्हारा वंदन करें ? शय्या त्याग कर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिए—

"समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तन-मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥"

देवि ! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अंगस्पर्श करूँगा। तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है ? समुद्रांत जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अंग है। इस स्थान को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ? इस समुद्रांत भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सभी को तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा। माँ ! तुम इस अपराध को क्षमा करो। तुम जननी हो तुम क्षमा, न करोगी तो कौन करेगा ? यह विशाल पर्वत-समूह तुम्हारा स्तनमण्डल है। इस पर्वतसमूह से जितनी स्रोतस्विनी नदियाँ निकल रही हैं वे तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं। इन्हीं से सब प्राणी प्राणवान् हैं। जननि, विष्णुपत्नि ! सन्तान का यह अपराध क्षमा करो। हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं।

हाय माँ ! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसी से तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी संतान मिट्टी हो रही है, इसलिये तुम्हारा भी वह वसुंधरा नाम विलुप्तप्राय है। देवी ! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरबस, मिट्टी में मिल जाता है ॥

इसी समय हरदयाल फिर आ पहुँचा। कहने लगा—'चाचा! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुनकर वह रो रहा है।' मैं बोला—"हरदयाल! मैं भी तो रो रहा हूँ।" वस्तुतः इस समय मैं भावविह्वल हो रहा था। दोनों नेत्र जल से छल छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देखकर कहा—"क्यों चाचा! तुम रोते क्यों हो? खिलौना फूट गया है, इसी लिये क्या? खिलौना तो खरीदने पर फिर भी मिल सकता है।" मैंने कहा—"हाँ, खिलौना खरीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिये नहीं रोता। जो खरीदने पर फिर नहीं मिलता, उसी के लिये रोता हूँ।"

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई। बालक की सांत्वना के निमित्त स्वयं मुझको उठना पड़ा। मैंने विषयांतर में मन लगाया। इस प्रकार मेरी चिंता का स्रोत अर्द्धपथ ही में आकर रुक रहा। रुक जाय. समझनेवाले इसी से एक प्रकार का सिद्धांत निकाल सकते हैं। अर्थात् "सब मिट्टी हो गया" इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, 'मिट्टी से सब होता है' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई कंचन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी का कंचन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है! अच्छा, जरा बालक को समझा आऊँ।

(४) अयोध्या

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः ॥

अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जैन और द्वारका ये सप्तपुरी के नाम से प्रसिद्ध हैं और शास्त्रों में मोक्षदायक कही गई हैं। इनके माहात्म्य और प्रताप के वर्णन से बड़े बड़े ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इन्हीं सात पुरियों की विभूति और समृद्धि की बड़ाई सुनकर समय समय पर विदेशियों ने इस देश पर चढ़ाई की थी। इन सातों की रक्षा के निमित्त जैसे जैसे घोर संग्राम हमारे पूर्वज महापुरुषों ने किये हैं वैसे युद्ध उन्होंने अपने धन, दुर्ग और नगर तथा पुत्र आदि बचाने के लिये भी नहीं किये। जितना रक्तप्रवाह यहाँ एक एक पुरी और देवमूर्ति के पीछे हुआ है, उतना दूसरे देशों में संपूर्ण देश भर के लिये भी हुआ कि नहीं, इसमें भी बहुत लोगों को संदेह है।

ये सप्तपुरियाँ हमारे धर्म्म एवं धन की रखनेवाली, शक्ति-संचारिणी और महा-माया की अपर मूर्तियाँ हैं। इनकी सुदशा से हमारी दशा सुधरती है और इनकी दुर्दशा से हमारी दशा बिगड़ती है। संसारसागर से पार होने की यही सात नौकाएँ हैं। पापपंक में डूबते हुए को ये ही सात तीर्थ हैं। जिज्ञासु

को इन्हीं से ज्ञान मिलता है, भगवान् का भक्त भक्ति पाता है और कर्तव्यपरायण वीर पुरुष भी राजनीतिक उपदेश से यहाँ आकर खाली नहीं रह सकता। देशकाल का ज्ञान, प्रकृति का सौंदर्य्य, महापुरुषों का सत्संग, भगवान् का स्मरण और समान धर्म्मवाले सज्जनों का समागम जैसा इन सातों में सुलभ है, वैसा दूसरी जगह करोड़ों के खर्च से भी नहीं। क्या यह साधारण उपकार है ?

पृथ्वी के किसी अद्भुत प्रभाव और जल के किसी विचित्र तेज से तथा मुनियों के वासस्थान होने से तीर्थों की पवित्रता कही गई है। अतएव इन तीर्थों की पुण्यभूमि कितनी आनन्द-दायिनी है, यहाँ सत्वगुण का कितना उद्रेक होता है, यह एक बार इनमें जाकर ही देखना चाहिए। बिना इसके इस अपूर्व रस का यथार्थ ज्ञान होना कठिन है।

इसमें संदेह नहीं कि आज-कल हमारी जैसी हीन और दीन दशा है, उससे कहीं बढ़कर हमारी इन पुरियों की है ! हमारे दुर्भाग्य, हमारी अयोग्यता और हमारी उपेक्षा से हमारी इन तीर्थ-स्वरूप पुरियों का बहुत कुछ सौंदर्य्य और गौरव नष्ट-भ्रष्ट हो गया और रहा सहा भी प्रतिदिन नष्ट हो रहा है। जिनकी प्रतिष्ठा और श्रीवृद्धि के लिये हमारे पूर्वजों को सिर तक देने में संकोच न था, अब उस पितरों के बचे बचाये सर्वस्व धन की हम उपेक्षा कर रहे हैं ! इसे मूर्खता कहें कि कृतघ्नता ? यह आप ही विचार लें।

भारतवर्ष में इस समय कितने ऐसे धर्म्मप्रचारक वा धर्म्म-प्रेमी महापुरुष हैं, जो इस बात का विचार करते हैं कि जिस काशी नगरी में बौद्ध चीनी यात्री ने सौ फुट सुवर्ण का शिवलिंग देखा था, वह अब कहाँ गया? उसकी अब क्या दशा है? विद्यापीठ वाराणसी में पुराने शिवलिंगों की आजकल कैसी प्रतिष्ठा वा पूजा हो रही है? जिस मथुरा से महमूद गजनवी ने सोने चाँदी की खंडित मूर्तियों से अनेक ऊँट भरे थे, इस समय वहाँ कितनी सुवर्ण की मूर्तियाँ विद्यमान हैं? अँगरेजों के ज्वलंत प्रताप में, इस शांति के समय में, हमने अपनी पुरियों की कितनी श्रीवृद्धि की है? क्या इसका कभी किसी धर्म्मसभा ने लेखा लगाया है? हमारी भी विचित्र दशा है! हमें जर्मनी, फ्रांस की सब बातें याद हैं, पर यह ज्ञात नहीं कि अयोध्या, मथुरा आदि पुरियों में क्या है। अँगरेजों की देखादेखी हम "सृष्टि कब हुई" इस प्रश्न की आलोचना करने लग गए, किंतु यह खबर नहीं कि अयोध्या आदि पुरियाँ कब और किसने प्रतिष्ठित की थीं। शेक्सपियर और गोल्डस्मिथ के नाटक और काव्य के अनुवाद करने को हम मरते हैं, पर यह नहीं जानते कि हमारी संस्कृत भाषा में रामायण रघुवंश आदि अनेक उपादेय सरस काव्य वर्तमान हैं। इटली के प्रसिद्ध पाम्पे नगर की बरबादी पर हम लेख लिखकर आँसू बहा रहे हैं, परंतु अपनी पुरानी राजधानी अयोध्या, मथुरा की ओर ताकते भी नहीं कि वहाँ क्या था और क्या हो गया।

पुण्यसलिला गंगा, यमुना और सरयू के तट पर जहाँ यज्ञों के सहस्रों यूप दूर से दिखलाई पड़ते थे, अहो! अब उनकी जगह मसजिदों के मीनार दृष्टिगोचर होते हैं! ये मीनार नहीं हैं, काशी मथुरा आदि देवियों के ऊर्ध्वबाहु हैं जो जगदीश्वर से अत्याचारियों के अत्याचार की फर्याद कर चिरकाल से त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं! पाठक! एक बार इन पुरियों को देखिए और अतीत घटना का स्मरण कर काल की कुटिलता का अनुभव कीजिए कि उसने क्या से क्या कर दिखाया? जहाँ बड़े बड़े दुर्ग और ऊँचे ऊँचे सुंदर प्रासाद पुरियों की शोभा बढ़ा रहे थे, वहाँ अब चारों ओर टूटे फूटे खँडहर पड़े हैं और उनमें गीदड़ रो रहे हैं! काल की कुटिला गति को कोई कार्य्य दुर्घट नहीं। वह सब कर सकती है। जहाँ भगवान् राम कृष्ण आदि का जन्म हुआ था, जहाँ आता हुआ किसी समय देवेंद्र भी थर्राता था, जहाँ वीणा की आवाज, धनुष की टंकार और वेद की ध्वनि हर तरफ से आती थी, वहाँ अब मसजिद बनी हुई है और "तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिशि लखियत खँडहर"।

लक्ष्मी का घर, रत्नों की खानि और महापुरुषों की जन्म-भूमि होकर भी ये सप्तपुरियाँ आज धूल में मिल रही हैं। हमारी ये सातों पुरियाँ किन किन राजाओं बादशाहों के हाथ कब कब और किस किस तरह आईं, किस किस ने कैसा कैसा यहाँ पर जोर-जुलम किया और कौन कौन से समय के

फरफार कब कब इनको झेलने पड़े, जिनसे ये कुछ की कुछ बन गईं, इन सब बातों के जानने की जैसी हमारे इतिहास-रसिक पाठकों को जिज्ञासा है, वैसी ही इसके लिखने और निरूपण करने की हमारी उत्कंठा है। इसी लिये आज फिर पुराने इतिहास का चर्वितचर्वण किया चाहते हैं। देखें, यदि पाठकों को कहीं कुछ रस मिले। पर जी के उत्साह निकालने का अब कहीं भी कुछ सामान नहीं है, अर्थात् ऐतिहासिक ग्रंथ, लेख वा स्थान जैसे चाहिए वैसे विद्यमान नहीं रहे।

आर्य्यवंश की वीरता, विद्या, राजश्री और इन पुरियों की प्राचीन सामग्री जिनसे इतिहास का बहुत कुछ पता चल सकता था, सबको सब भारत के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज की विशाल देह के साथ ही दृषद्वती (घाघरा) के किनारे बहुत दिन हुए नष्ट हो गईं! अब उनका मिलना असम्भव है। मुसलमानों के अत्याचार से कहीं भी कुछ शेष नहीं है, केवल भारत की प्राचीन राजश्री का अश्रुप्रवाह ही कहीं कहीं गंगा, यमुना और सरयू का नाम धारण कर शेष रह गया है; तथापि हम यथासाध्य इन सातों पुरियों की आवश्यक बातों का क्रम से वर्णन करना आरंभ करते हैं। आशा है कि पाठकों को रुचिकर होगा।

चाहे कोई हठी दुराग्रही माने या न माने पर यह सिद्धांत की बात है कि भारतवर्ष में यदि परमधर्म्म मूर्तिपूजन का प्रचार

न होता तो कदाचित् इस काल में अयोध्या आदि पुरियों का इतना पता चलना भी कठिन था कि वे किस जगह पर थीं। यह मूर्तिपूजा ही का प्रभाव है कि बार बार ध्वंस होने पर भी हिंदुओं की पुरानी राजधानियों का नाम नहीं मिटा। अयोध्या के दाशरथी, मथुरा के केशवदेव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के महाकालेश्वर आदि देवमूर्तियों की पूजा ही पुरियों के जीर्णोद्धार और फिर से बसने का कारण हैं।

टूटे फूटे मंदिर और खंडित मूर्तियों के ढेर के सिवाय अत्याचारियों के अत्याचार से इन पुरियों में शेष रह ही क्या गया है? पर यदि सोचें समझें और विचार कर देखें, तो यह क्या कम है? दृढ़प्रतिज्ञ धीर पुरुष को पितरों का अस्थिपुंज वा उनके चरण की धूल ही शक्तिसम्पन्न करने को बहुत है पर हृदयशून्य अकृतज्ञ पुरुष को कहीं भी कुछ नहीं।

प्राचीन अयोध्या

सातों पुरियों की गणना में अयोध्या का नाम सबसे प्रथम है। क्यों न हो? जो भारतवर्ष में आदिराज मनु की सबसे प्रथम राजधानी बनी; जहाँ वीरता, विद्या और सभ्यता का सबसे प्रथम विकास हुआ; जिसमें महात्मा इक्ष्वाकु, मांधाता, हरिश्चंद्र, दिलीप, अज, रघु, श्रीरामचंद्र हुए उस अयोध्या का नाम सबसे प्रथम क्यों न हो? जिसके राजवंश के चरित्र के

अतिरिक्त कविकुलचूड़ामणि वाल्मीकिजी को कुछ भी विषय अच्छा नहीं लगा; कालिदास, भवभूति, मुरारि, जगन्नाथ और जयदेव आदि भारत के बड़े बड़े महाकवियों ने जिसका वर्णन कर अपने को धन्य माना और जहाँ के एक रामनाम के प्रवाह ने संसार को पूत और प्लावित कर निष्पाप कर दिया, उस परम पूजनीया अयोध्या का नाम सबसे पहले किस प्रकार न हो ? होना ही चाहिए। सुतरां जब सब ने अयोध्या की कीर्ति का कीर्तन सर्वप्रथम किया है, तब हम भी उसी प्राचीन मर्य्यादा का अनुसरण कर, सबसे पहले, अयोध्या ही का वर्णन करते हैं।

अयोध्या की अलोचना के तीन दृश्य हैं। एक सबसे पुराना है जिसको महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में दिखलाया है दूसरा मुसल्मानी राज्य के आरंभ समय का है, जिसको फारसी की तवारीखों (इतिहासों) में उस समय के इतिहासलेखकों ने लिखा है। तीसरा वर्तमान समय का है, जो हमारे नेत्रों के सामने विद्यमान है और जो अँगरेजी राज्य की उत्तमता का फल है। अयोध्या का प्राचीन दृश्य इतना मनोहर है कि उसे हम किसी प्रकार चित्त से हटा नहीं सकते। जो लोग उसे हमारे चित्त से हटाने की चेष्टा करते हैं, उनका श्रम निष्फल है। उन्हें समझना चाहिए कि हम यदि उनकी माया में फँसकर अयोध्या के उस दृश्य को भूलें भी तो वाल्मीकि और तुलसीदास आदि महापुरुष हमें भूलने नहीं देते।

महर्षि वाल्मीकिजी की रामायण को देखने से यही सिद्ध होता है कि अयोध्या उस समय में मर्त्यलोक की अमरावती थी। अमरावती क्या, यदि अमरावती से बढ़कर कोई पुरी भूमंडल पर थी तो वह अयोध्या ही थी। यहाँ जो कुछ विभूति वा सुख-सामग्री था, उसका अनन्य प्रभाव था। जिस दैवी संपत्ति के कारण अयोध्या की शास्त्रों में भूयसी प्रशंसा की गई है उसका वर्णन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम केवल अयोध्या की उस मानुषी संपत्ति को दिखाना चाहते हैं जिसे लिखे पढ़े लोग नवीन समझे हुए हैं!

यह भूमंडल की सबसे पहली लोकप्रसिद्ध राजधानी स्वयं आदिराज महाराज मनुजी ने बसाई थी। यह दैर्घ्य (लंबाई) में बारह योजन और विस्तार (चौड़ाई) में तीन योजन थी। सुतरां अयोध्या अड़तालीस कोस लंबी और बारह कोस चौड़ी थी। जैसा कि महर्षि वाल्मीकिजी ने रामायण के बालकांड में वर्णन किया है—

"अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेंद्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा नानासंस्थानशोभिता॥"

ऊपर जो अयोध्या की लंबाई-चौड़ाई का वर्णन है उसमें नगर मात्र को समझना चाहिए, राजमहल वा राजदुर्ग इससे भिन्न था। महर्षि ने दूसरी जगह लिखा है—

"सा योजने च द्वे भूयः सत्यनामा प्रकाशते।"

अर्थात् द्वादश योजन लंबी और तीन योजन विस्तृत महापुरी में दो योजन अंश परिखा आदि द्वारा विशेष सुरक्षित हो "अयोध्या" (जिसे शत्रु जीत न सके) के नाम को अधिक सार्थक करता था। राजधानी अयोध्यापुरी के चारों ओर प्राकार (कोट) था। प्राकार के ऊपर नाना प्रकार के शतघ्नी आदि सैकड़ों यंत्र रखे हुए थे। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में तोप की तरह किले को बचाने के लिये कोई यंत्र-विशेष होता था। शतघ्नी को यथार्थ तोप कहने में हमें इसलिए संकोच है कि उससे पत्थर फेंके जाते थे। बारूद का कुछ काम न था। महर्षि बाल्मीकि बारूद का नाम भी नहीं लेते। यद्यपि किसी किसी जगह टीकाकारों ने 'अग्निचूर्ण' वा 'और्व, के नाम से बारुद को मिलाया है, पर उसका हमने प्रकृत में कुछ भी उपयोग नहीं पाया। अस्तु।

कोट के नीचे जल से भरी हुई परिखा (खाई) थी। पुरी के उत्तर भाग में सरयू का प्रवाह था। सुतरां उधर परिखा का कुछ भी प्रयोजन न था। उधर सरयू का प्रबल प्रवाह ही परिखा का काम देता था। किंतु संभव है कि नदी के तट पर भी नगरी का प्राकार रहा हो। नगरी के तीन ओर जो खाई थी अवश्य वह जल से भरी रहती थी, क्योंकि नगरी के वर्णन के समय महर्षि वाल्मीकि ने उसका 'दुर्गगंभीर-परिखा' विशेषण दिया है। टीकाकार स्वामी रामानुजाचार्य्य ने इसको

व्याख्या में कहा है कि "जलदुर्गेण गंभीरा अगाधा परिखा यस्याम्"। इससे समझ में आता है कि जलदुर्ग से नगरी को समस्त परिखा अगाध जल से परिपूर्ण रहती थी। सुतरां इन परिखाओं में जल भरने के लिये किसी तरह का कौशल था, इस विषय में कुछ संदेह नहीं।

संभव है कि नगरी के चारों ओर चार द्वार रहे हों। सब द्वारों का नाम भी अलग अलग रखा गया होगा, किंतु हमें एक द्वार के सिवाय और द्वार का नाम नहीं मिलता। नगरी के पश्चिम ओर जो द्वार था उसका नाम था "वैजयंत द्वार"। शत्रुघ्न सहित राजकुमार भरत जब मातुलालय गिरि-व्रज नगर से अयोध्या आए थे तब इसी द्वार से प्रविष्ट हुए थे। यथा—

"द्वारेण वैजयनेन प्राविशच्छ्रांतवाहनः।"

नगरी से जो पूर्व की ओर द्वार था, उसी से विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण सिद्धाश्रम वा मिथिला नगरी में गए थे। किंतु दक्षिण का द्वार राम-लक्ष्मण और सीता की विषादमयी स्मृति के साथ अयोध्यावासियों को चिरकाल तक याद रहा था, क्योंकि इसी द्वार से रोती हुई नगरी को छोड़कर राम, लक्ष्मण और सीता दंडक वन में गए थे, और इसी द्वार से रघुनाथ जी की कठोर आज्ञा के कारण जगज्जननी किंतु मंदभागिनी सीता को लक्ष्मण वन में छोड़कर आए थे। उत्तर की ओर जो द्वार था उसके द्वारा पुरवासी सरयू तट पर आया जाया करते थे।

इस प्रकार अयोध्या 'कोट खाई' से घिरकर सचमुच 'अयोध्या' हो रही थी। पर हमारी अयोध्या की इन पुरानी बातों को दो चार व्यूह्लर और वेबर आदि जो दुराग्रही विलायती पंडित सहन नहीं करते उनके लिये यह असह्य और अन्याय की बात हो रही है कि जिस समय उनके पितर वनचरों के समान गुजारा कर रहे थे, उस समय हिंदुओं के भारतवर्ष में पूर्ण सभ्यता और आनंद का डंका बज रहा था! लाचार हमारी पुरानी बातों का इन्हें खंडन करना पड़ता है। लंडन नगर का चाहे जितना विस्तार हो, पेरिस नगरी चाहे जितनी बड़ी हो, यह सब हो सकता है; किंतु अयोध्या का अड़तालीस कोस में बसना सब झूठ है! इतना ही नहीं, एक साहब ने कहा है कि अयोध्या के चारों ओर कोट की जगह काठ का बाड़ा बना हुआ था, जैसा अब भी जंगली लोग पशुओं से बचने के लिये जंगल में खड़ा कर लिया करते हैं। इसके सिवाय और सब ब्राह्मणों की कल्पना है!

वेबर को इस पर भी सन्तोष वा विश्वास नहीं हुआ कि हिंदुओं के पूर्वजों के पास एक बाड़ा भी रहा हो" उसने लिख मारा है कि "न अयोध्या हुई और न कोई राम! सब कवि-कल्पना है"। सीता को हल से जुती हुई धरती की रेखा और आर्यों की खेती ठहराई है और रामचद्र तथा बलरामजी (अर्थात् हलभृत्, और सीतापति) को एक ही ठहराकर यह निगमन निकाला है कि लुटेरों से प्रजा की खेती की जो बलराम

जी ने रखवाली की उसका रूपक बाँध कर रामायण में यों लिखा है कि सीता को राक्षस ने हर लिया और पीछे से सीता के पति रामचंद्र ने ढूँढ़कर उन्हें राक्षसों से छुड़ा लिया।

वेबर के विचारों की दुर्बलता वा निरंकुशता हम अपने दूसरे लेखों में दिखावेंगे। यहाँ केवल उन हिंदूकुलांगारों से निवेदन है जो वेबर आदि को पुरातत्त्ववेत्ता मानकर उनके पीछे पीछे अंधकार में चले जा रहे हैं। वे एक बार रामायण को देखें और फिर विलायतवालों की धृष्टता की परीक्षा करें कि वे अर्थ का कितना अनर्थ कर रहे हैं। बाँस लकड़ी आदि का जो अयोध्या का दुर्बल प्राकार बता रहे हैं, वे अयोध्या के संबंध में प्रयुक्त रामायण में इन विशेषणों की ओर ध्यान दें—'बहुयन्त्रायुधवती' 'शतघ्नीशतसङ्कुला'।

अयोध्या नगरी की सड़कों और गलियों के सुंदर और स्पष्ट वर्णन से कौन कह सकता है कि वह किसी बात में कम रही होगी? नगर के चारों ओर सैर करने की सड़क थी जिसका नाम 'महापथ' लिखा है। राजप्रासाद (जो नगरी के मध्य भाग में किसी जगह था) के चार द्वार थे। इन द्वारों से 'सर्व्वपण्य शोभित' मार्ग पुरी में चारों ओर जाते थे, उनका नाम राजमार्ग अर्थात् सरकारी सड़क था। राजमार्ग और गलियों से नगर के मुहल्लों का विभाग हो रहा था। सब महारथ और राजमार्ग प्रतिदिन छिड़के जाते

थे। खाली जल ही से नहीं, सुगंधित पुष्पों की भी मार्ग में वृष्टि होती थी, जिससे पुरी सुवासित रहती थी—

मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः।

नगरी में जब कोई विशेष उत्सव होता तब सर्वत्र चंदन के जल का छिड़काव होता और कमल तथा उत्पल सब जगह शोभित किए जाते। मार्ग और सड़कों पर रात्रि के समय दीपक वा प्रकाश का कुछ राजकीय प्रबंध था कि नहीं, इसका कुछ स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। किंतु उत्सव के समय उसकी विशेष व्यवस्था होती थी, इस विषय में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। रामराज्याभिषेक की पहली रात्रि को सब मार्गों में दीपक-वृक्ष (झाड़) लगाए गए थे और खूब रोशनी की गई थी। यथा,—

प्रकाशीकरणार्थञ्च निशागमनशङ्कया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रु रनुरथ्यासु सर्व्वशः॥

ऐसे उत्सव के समय मार्ग के दोनों ओर पुष्पमाला, ध्वजा और पताका भी लगाई जाती थीं और संपूर्ण मार्ग 'धूपगंधाधिवासित' भी किया जाता था। राजमार्ग (सड़क) के दोनों ओर सुंदर सजी सजाई नाना प्रकार की दूकानें शोभायमान थीं। इसके सिवाय कहीं उच्च अट्टालिका; कहीं सुसमृद्ध चारुदृश्य मानवालय,' कहीं चैत्यभूमि, कहीं वाणिज्यागार और कहीं 'भूधरशिखर सम देवनिकेतन' पुरी की शोभा बढ़ा रहे थे।

कहीं सूतमागध वास करते, सर्व्व प्रकार शिल्पनिपुण (कारीगर) दृष्टिगोचर होते और कहीं पुरस्त्रियों की नाट्य-

शाला सुशोभित थी। कोई कोई स्थान हाथियों, घोड़ों और ऊँटों से भरे थे। किसी स्थान में सामंत राजगण, कहीं वेदविद् ब्राह्मण लोग और कहीं ऋषिमंडल निवास कर रहे थे। कहीं स्त्रियों का क्रीड़ागार, कहीं गुप्तगृह और कहीं सार्वभौमिक भवन विद्यमान था। कहीं विदेशीय वणिक् जन और कहीं वारमुख्या (गणिका) बस रही थीं। कहीं आम्रवन, कहीं पुष्पोद्यान और कहीं गोचारण-भूमि दिखाई पड़ती थी। किसी स्थान से निरंतर मृदंग वीणा आदि की मधुर ध्वनि आती थी, कहीं सहस्रों नरसिंह सैनिक 'गुफा' की तरह अयोध्या की रक्षा कर रहे थे। महर्षि बाल्मीकि कहते हैं कि—अयोध्यावासी धर्म्मपरायण, जितेंद्रिय, साधु और राजभक्त थे। चारों वर्ण के लोग अपने अपने धर्म्म में स्थित थे। सभी लोग हृष्ट, पुष्ट, तुष्ट, अलुब्ध और सत्यवादी थे। अयोध्या के पुरुष कामी, कदर्य और नृशंस नहीं थे और सभी नारियाँ धर्म्मशीला और पतिव्रता थीं। अयोध्या के वीर पुरुष भी राजा के विश्वास-पात्र और सरल थे। कांबोज, बाल्हीक, सिंधु और वनायु देश से अयोध्या में अश्व आया करते और विंध्य, हिमालय से महापद्म ऐरावत प्रभृति भद्रमंद और मृगजातीय नाना प्रकार के हस्ती आते थे। हाय! अब इन बातों की सत्यता पर विश्वास भी नहीं रहा। योगीश्वर बाल्मीकि की कविता केवल कल्पना मात्र समझी गई। पाठक! पुरानी अयोध्या का यह चित्र है। अब आगे का चित्र देखिए।

अयोध्या की पिछली दशा ऐसी खराब हुई कि उसके पुराने प्रताप में भी लोगों को संदेह हो गया; किंतु विचारशील पुरातत्त्ववेत्ता किसी न किसी प्रकार यह कही बैठते हैं कि अपने समय में अयोध्या भी एक ही थी। इसकी तुलना योग्य दूसरी नगरी ही नहीं थी। अबुलफजल लिखता है कि "यह शहर अपने जमाने में १४८ कोस लंबा और ६६ कोस चौड़ा बसता था।" विदेशियों के खुशामदी, स्वदेशियों के निंदक, मृत राजा शिवप्रसाद भी अबुलफजल के कथन को बढ़ावा मान प्रकारांतर से उसी का अनुमोदन करते हैं। वे कहते है कि "इसमें शक नहीं इमारतों के निशान दूर दूर मिलने से यह बात बखूबी साबित है कि वह परले दर्जे का शहर था"। राजा शिवप्रसाद की प्रकृति ही ऐसी थी कि जहाँ देशियों के प्रताप का वर्णन होता, उसे वे बढ़ावा समझते और देशियों की निंदा को यथार्थ। यही हाल इनके शिक्षागुरु विलायतवालों का है। क्या यह संभव नहीं कि समृद्धिशालिनी अयोध्या रघुवंशी वा बौद्ध राजाओं के समय, काल पाकर, अधिक समृद्ध हो गई हो?

अयोध्या कितनी बार बसी और कितनी बार उजड़ी, इसका हिसाब करना सहज नहीं है। सच पूछिए तो भगवान् श्री रामचंद्र के लीलासंवरण के बाद ही अयोध्या पर विपत्ति आई। कोशल राज्य के दो भाग हुए। श्री रामचंद्र के ज्येष्ठ कुमार महाराज कुश ने अपने नाम से नई राजधानी "कुशावती" बनाई और छोटे पुत्र लव ने "शरावती" वा "श्रावस्ती" की

शोभा बढ़ाई। राजा के बिना राजधानी कैसी ? अयोध्या थोड़े ही दिनों पीछे आपसे आप श्रीहीन हो गई। अयोध्या की दुर्दशा के समाचार सुन महाराज कुश फिर अयोध्या में आए और कुशावती ब्राह्मणों को दान कर पूर्वजों की प्यारी राजधानी और उनकी जन्मभूमि अयोध्या ही में रहने लगे।

कविकुलकलाधर महाकवि कालिदास ने रघुवंश काव्य के १६वें सर्ग में कुशपरित्यक्ता अयोध्या का वर्णन अपनी ओजस्विनी अमृतमयी लेखनी से किया है, जिसको पढ़कर आज दिन भी सरस हृदय रामभक्तों का हृदय द्रवीभूत होता है। यद्यपि महाकवि ने यह उस समय का पुराना चित्र उतारा है, पर हाय हमारे मंद अदृष्ट से वर्तमान में भी तो वही वर्तमान है। भेद है तो यही है कि उस समय भगवती अयोध्या की पुकार सुननेवाला एक सूर्य्यवंशी विद्यमान था किंतु अब वह भी नहीं रहा !

कोई जड़ जीव सुने या न सुने; परंतु अयोध्या की वह हृदय-विदारिणी पुकार सरयू के कल कल शब्द के साथ 'हा राम ! हा राम !' करती हुई अभी तक आकाश में गूँज रही है। उस प्राचीन दृश्य को विगतजीव हिंदू समाज भूले तो भूल सकता है, परंतु अयोध्या की अधिष्ठातृदेवी किस प्रकार भूल सकती है ?

महाभारत के महासमर तक अयोध्या बराबर सूर्य्यवंशियों की राजधानी रही। उस युद्ध में कुमार अभिमन्यु के हाथ से अयोध्या का अंतिम सूर्य्यवंशी महाराज 'बृहद्‌बल' मारा गया।

इसके बाद इस राज्य पर ऐसी तबाही आई कि अयोध्या बिलकुल उजड़ गई। सूर्य्यवंश अंधकार में लीन हो गया। इस वंश के लोग दूसरों के अधीन हुए। प्राणों का मोह बढ़ा और स्वाधीनता नष्ट हुई। उदयपुर के धर्म्मात्मा राणा, जोधपुर के रणबँकुरे राठोड़ और जयपुर के प्रतापी कछवाहे इसी सूर्य्यवंशी-रूपी महावृक्ष की बची-बचाई शाखएँ हैं।

महाभारत तक का वृत्तांत पुराणों मे मिलता है पर इसके पीछे का कुछ वृत्तांत जाना नहीं जाता कि अयोध्या में कब क्या हुआ और किसने क्या किया। परंतु शाक्यसिंह बुद्धदेव के जन्म से फिर अयोध्या का पता चलता है और कुछ कुछ वृत्तांत भी मिलता है। कारण बुद्धदेव कपिलवस्तु में उत्पन्न हुए, श्रावस्ती में रहे और कुशीनगर वा कुशीनार में निर्वाण को प्राप्त हुए। ये सब स्थान कोशल देश में विद्यमान थे। बुद्धमत के ग्रंथों से जाना जाता है कि उन दिनों कोशल वा अवध की राजधानी का राजसिंहासन 'श्रावस्ति' को मिल गया था। यह वही प्रसिद्ध श्रावस्ति है जिसे श्रीरामचंद्रदेव के कनिष्ठ पुत्र लव ने 'शरावती' के नाम से बसाकर, अपनी राजधानी बनाया था। इसी का नाम जैनियों के प्राकृत ग्रथों में 'सावंथी' है। अब यह अयोध्या के पास उत्तर दिशा में महाराज बलरामपुर के इलाके गोंडा के जिले, में उजड़ी हुई जल में पड़ी है। वहाँवाले इसे 'महेत महेत' कहते हैं। ईसवी की सप्तम शताब्दी में ह्वेन्त्सांग नामक प्रसिद्ध बौद्धयात्री भारतवष में आया था। उसने अयोध्या के साथ श्रावस्ति

और कपिलवस्तु आदि नगरों का भी अपनी यात्रा-पुस्तक में वर्णन किया है। उसी के अनुसार अलेकजेंडर, कनिंगहम साहब ने "सहेत महेत" के खंडहर खुदाकर अनेक ऐतिहासिक बातों का पता लगाया जिनका वर्णन हम किसी दूसरे लेख में करेंगे।

बौद्धों के समय यद्यपि अयोध्या अवध की राजधानी न थी तथापि उसकी दशा ऐसी खराब न थी, जैसी पीछे मुसलमानों के समय में हुई। तब तक पुराने राजमंदिर और सुंदर देवस्थान तोड़े नहीं गये थे और न अयोध्यावासी ब्राह्मणों का रक्त बहाया गया था। चीनी यात्री के लेख से भी अयोध्या की पिछली दशा सुंदर ही प्रतीत होती है। सन् ईसवी से ५७ वर्ष पहले श्रावस्ति के बौद्ध राजा को जीतकर उज्जैन के प्रसिद्ध महाराज विक्रमादित्य ने आर्य्यराजधानी अयोध्या का जीर्णोद्धार किया। पुराने मंदिर, देवालय और स्थान सब परिष्कृत किए गए और अनेक नवीन मंदिर भी बनवाये गए। वह प्रसिद्ध मंदिर जिसको दुराचारी म्लेच्छ बादशाह बाबर ने सन् १५२६ ई० में तोड़कर भगवान् रामचद्रदेव की जन्म-भूमि पर मसजिद खड़ी की, इन्हीं महाराज विक्रम ने बनवाया था। यदि अब तक वह मंदिर विद्यमान रहता तो न जाने उससे कैसे कैसे ऐतिहासिक वृत्तांतों का पता लगता।

श्रावस्ति ने आठ सौ वर्षों तक स्वतंत्रता का सुख भोगा। अंत को वह भी जननी अयोध्या के समान पराधीन हो दूसरा

का मुँह देखने लगी। कभी पटने के प्रतापशाली राजाओं ने इसे अपनाया और कभी कन्नौजवालों ने निज राजधानी की सेवा में इसे नियुक्त किया! अपने लोग चाहे कितने ही बुरे क्यों न हों, अंत को अपने अपने ही हैं। अपना यदि मारे भी तो भी छाया में रखता है। बौद्धों और जैनियों के समय के पहले की सी बात न थी तो भी अयोध्या की इस समय दशा मुसलमानों के राज्य से लाख गुनी अच्छी थी, क्योंकि दूसरों की राजधानी होने की अपेक्षा अपनों की दासी होना भी भला था; परंतु विधाता को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ। इसके लिये उसने और भी भयंकर समय उपस्थित कर दिया। प्रथम तो रघुवंशियों के विरह से यह आप ही मर रही थी, दूसरे परस्पर की फूट ने इसे और भी हताश कर दिया था। वे घाव अभी तक सूखने भी न पाए थे, जो रामवियोग से इसके अर्चनीय और वंदनीय शरीर में होने लगे थे कि अकस्मात् महमूद गजनवी के भांजे सैयद सालार ने इस पर चढ़ाई कर 'जले पर नून' का सा असर किया। इसी सालार ने काशी के वृद्ध महाराज 'बनार' को धोखे से नष्ट कर काशी का स्वाधीन सुख अपहरण किया और इसी ने अयोध्या को चौपट किया। कई लड़ाइयों के बाद सन् १०३३ में यह सालार हिंदुओं के हाथ बहरायच में मारा गया। गाजीमियाँ के नाम से आज कल यही सालार मूर्ख और पशुप्राय जीवित हिंदुओं से पूजा करवा रहा है—

"किमाश्चर्य्यमतः परम्"

सन् १५२६ ई० में बाबर ने हिंदुस्तान पर चढ़ाई की और दो वर्ष के पीछे अर्थात् सन् १५२८ में अयोध्या के एकमात्र अवशिष्ट रामकूट मंदिर को विध्वंस कर रघुवंशियों की जन्मभूमि पर अपने नाम से मसजिद बनवाई, जो सही सलामत आज तक उसी तरह साभिमान खड़ी है। मुसलमान इतिहासलेखकों ने बाबर को शांत और दयालु बादशाह लिखा है; किंतु बाबर की बर्बरता और अन्याय के हमारे पास अनेक प्रमाण हैं, जिनको हम मरकर भी नहीं भूल सकते? अकबर के समय में धर्म्मप्रिय हिंदुओं ने नागेश्वर नाथ और चंद्रहरि आदि देवों के दस पाँच मंदिर ज्यों त्यों कर फिर बनवा लिये थे, जिनको औरंगजेब ने तोड़ उनकी जगह मसजिदें खड़ी कीं। सन् १७३१ ई० में दिल्ली के बादशाह ने अवध के झगड़ालू क्षत्रियों से घबराकर अवध का सूबा सआदतखाँ को दिया तब से इधर नवाबी की जड़ जमी।

अवध की नवाबी का बीज सआदतखाँ ने बोया था। मंसूर अलीखाँ और सफदरजंग के समय वह अंकुरित और पल्लवित हुआ। नवाब शुजाउद्दौला उसे परिवर्द्धित कर फल पाया। मंसूर अलीखाँ के समय अवध की राजधानी फैजाबाद हुआ (फैजाबाद वर्तमान अयोध्या से ३ मील पश्चिम ओर है)। अयोध्या की राजश्री फैजाबाद के नाम से विख्यात हुई। यहाँ के मुसलमान मुर्दों के लिए अयोध्या करबला हुई। मंदिरों के स्थान पर मसजिदों और मकबरों का अधिकार हुआ।

साधु-संन्यासी और पुजारियों की जगह पर मुल्ला-मौलवी और काजी जी आरूढ़ हुए। अयोध्या का बिल्कुल स्वरूप ही बदल दिया। ऐसी ऐसी आख्यायिकाएँ और मसनवियाँ गढ़ी गईं, जिनसे यह सिद्ध हो कि मुसलमान औलिये फकीरों का यहाँ कदीमी अधिकार है। अब तक भी अयोध्या में मणिपर्वत की ओर यह नवाबी समय का दृश्य दिखलाई देता है। इसी समय नवाब सफदरजंग के कृपापात्र सुचतुर दीवान नवलराय ने अयोध्या में नागेश्वरनाथ महादेव का वर्तमान मंदिर बनवाया।

दिल्ली की बादशाही के कमजोर होने से अवध की नवाबी स्वतंत्र हुई। दक्षिण में मरहठों का जोर बढ़ा। पंजाब में सिक्ख गरजने लगे। सब को अपनी अपनी चिंता हुई। प्राणों के लाले पड़ गए। इसी उलट-फेर और अंधाधुंध के समय में हिंदू संन्यासियों ने अयोध्या में डेरा आ डाला। शनैः शनैः सरयू के तट पर साधुओं की झोंपड़ियाँ पड़ने लगीं। शनैः शनैः राम नाम की मृदु मधुर ध्वनि से अयोध्या की वनस्थली गूँजने लगी। शाही परवानगी से छोटे छोटे मंदिर बनने लगे। धीरे धीरे गुसाइँयों और स्वामियों के अनेक अखाड़े आ जमे और जहाँ तहाँ भस्मधारी हृष्ट पुष्ट परमहंस और वैरागी दृष्टिगोचर होने लगे। अपने अपने नेता वा गुरु की अधीनता में अलग अलग छावनी के नाम से इनकी जमातें की जमातें रहने लगीं। ये लोग आजकल के वैरागियों की तरह वृथापुष्ट और विषया-

सक्त न थे। भगवद्भजन के साथ साथ भगवती अयोध्या के उद्धार की भी इन्हें चिंता थी। इसलिये कुश्ती लड़ना, हथियार बाँधना और समय पर अपने बचाने को मुसलमानों से लड़ना झगड़ना भी इनका कर्तव्य कार्य्य था।

यदि उस समय गुसाइँयों और वैरागियों में परस्पर ईर्ष्या और कलह की जगह प्रेम और सौहार्द होता तो ये लोग अपने किए हुए पुरुषार्थ के फल से वंचित न होते। यदि उस समय इन्हें सिक्ख गुरु गोविंदसिंह जैसा एक महाप्राण दूरदर्शी धर्म्मगुरु मिलता, तो ये लोग भी खाली भिखमंगे न होकर सिक्खों की तरह एक हिंदू रियासत का कारण होते। पर विधाता को यह स्वीकार न था। इसलिये दरिद्र भारत में इनके द्वारा भिक्षुकों ही की संख्या-वृद्धि हुई। नवाब आसिफुद्दौला के दीवान राजा टिकैतराय ने उस समय इनको बहुत कुछ सहारा दिया था। शाही खर्च से उन्होंने गढ़ीनुमा छोटे छोटे दृढ़तर कई मंदिर भी बनवा दिए थे। प्रसिद्ध मंदिर हनुमानगढ़ी भी इसी समय गढ़ी के आकार में हुआ था। नवाब वाजिदअली शाह के समय अयोध्या में सब मिलाकर तीस मंदिर तैयार हो गए और प्रति वर्ष इनकी संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। परंतु अभी तक अयोध्या में गृहस्थों का निवास नहीं हुआ। गृहस्थों बिना पुरी कैसी! तथापि अयोध्या की बाह्य शोभा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है, यह क्या कम आनंद की बात है?

अयोध्या की वर्तमान दशा

वर्तमान समय में अयोध्या नगरी तहसील फैजाबाद के अधीन एक क्षुद्र ग्राम मात्र है। अधीन है सही, किंतु फैजाबाद ऐसे नगर न जाने उसके विस्तीर्ण खंडहरों में कितने दबे पड़े हैं। काशी, मथुरा आदि तीर्थों में पुराने चिह्नों का जैसे नामावशेष रह गया है, वैसे ही यहाँ भी पुराना नाम मात्र अवशिष्ट है। भगवान् रामचंद्र देव के समय की इमारतों का तो कुछ पता ही नहीं, वरंच वीर विक्रमादित्य का बनवाया हुआ मंदिर भी अब नहीं रहा। जिधर देखिए, उधर मसजिद और कब्र दिखलाई दे रही हैं। अब भी यह पुरी कोसों के घेरे में है, परंतु बीच बीच में बड़े बड़े मैदान और खंडहर पड़े हैं। कहीं तमाखू के खेत भी बोए जाते हैं। अयोध्या की जनसंख्या और बस्ती प्रति वर्ष अपने आकार को बढ़ा रही है। वाजिद-अली शाह के समय में यहाँ तीस से अधिक मंदिर न थे, अब हजारों पर संख्या पहुँच गई। नगरी का आकार बढ़ता है, पर वह प्रतापहीन नितांत निःसार है।

नगरी की शोभा गृहस्थों से है. और गृहस्थ यहाँ बहुत ही अल्प हैं। यहाँ के संत महंत और अधिष्ठाता बंदर और वैरागियों को छोड़कर अन्य जन विरले ही हैं। इन दोनों की चारों ओर प्रचंडता विद्यमान है। पूजा पाठ इन्हीं का होता है। भक्ति से हो या लोकाचार से इनकी तुष्टि बिना निस्तार नहीं है। बंदरों के लिये यहाँ ऊँचे ऊँचे इमली के वृक्षों की

कमी नहीं और बैरागियों के लिये यहाँ का शून्यप्राय मंदिरों का बाजार भी प्रति दिन उन्नत हो रहा है। अयोध्या के वर्तमान महाराज श्री प्रतापनारायणसिंह बहादुर अयोध्या की प्रकृत उन्नति कर रहे हैं। उनके राजभवन का निरीक्षण कर प्रत्येक सचेत का चित्त संतुष्ट होता है। अयोध्या के अविद्य और उदरसर्वस्व 'टकाराम' बैरागियों से दुःखित यात्री को राजभवन में आकर आराम मिलता है। महाराज के मंदिर, उद्यान और पुस्तकालय सब मनोहर हैं, रसिकता से खाली एक भी नहीं है।

अयोध्या में सरयू के अतिरिक्त प्राचीन चिह्न कुछ भी नहीं हैं और न कोई वैसा आदरणीय और पूजनीय मंदिर है। देखनेवाले यदि नवीन दृश्य की इच्छा करें और देवमूर्तियों के दर्शन किया चाहें तो यहाँ उसका भी नितांत अभाव नहीं है। जन्मभूमि, जन्मस्थान, हनुमानगढ़ी, नागेश्वरनाथ, कनकभवन आदि देवमंदिर और स्वर्गद्वार एवं गुप्तार घाट प्रभृति स्थान यहाँ देखने योग्य कहे जा सकते हैं।

जन्मभूमि रघुवंशियों की जन्मभूमि है। राम-लक्ष्मण के खेलने की जगह है, हिंदुओं के पूजने और लोटने का स्थान है। पर आजकल कलेजा थामकर रोने की जगह है! ऊँचे ऊँचे खंडहर हैं। इमली के पेड़ हैं, चारों ओर हजारों कबर हैं और बीच में शाह बाबर की बनवाई हुई मसजिद खड़ी है। इसी के चौक में एक छोटा सा चबूतरा है, जिस पर एक फूसझोपड़े में भगवान् दाशरथी की मूर्ति विराजमान है। पास

एक खाली बैठा हुआ हिंदुओं को यह शोचनीय दृश्य दिखा र..। है ! बस यही हमारा सर्वप्रधान देवमंदिर है ।

महाराज विक्रम ने यहाँ एक अति मनोहर 'रामकूट' प्रासाद बनवाया था। बर्बर बाबर ने रामकूट का ध्वंस कर उसी के मसाले से मसजिद बना डाली। एक पत्थर में मसजिद का निर्माणकाल हिजरी सन् ९२३ खुदा हुआ है। प्राचीन मंदिर के अति सुंदर दस खंभे मसजिद में लगे हुए हैं। अनेक देवताओं की सुदर प्रतिमाएँ, जिनको मुसलमानों ने विकृत कर रखा है, पुराने रामकूट मंदिर को सुंदरता और म्लेच्छों की नीचता का प्रमाण दे रही हैं।

जन्मभूमि के पास ही 'जन्मस्थान' है। मंदिर कलीचूने का बना हुआ साधारण है। यह जन्मभूमि की मूर्ति के लिये नवाबी समय में बना, और पीछे से बढ़वाया गया। यहाँ की देव-मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। और दर्शनीय है 'सीता की रसोई'। मंदिर के नीचे एक तहखाना है। बाहर पैसा देकर आदमी अंदर जा सकता है। एक बेलन और चकला रखा हुआ है। कहा जाता है कि यही सीताजी की रसोई है। स्त्रियाँ इसको बहुत देखती हैं। ऐसा ही यहाँ एक कोपभवन भी हास्य की सामग्री है।

हनुमानगढ़ी सचमुच 'हनुमानगढ़ी' है। एक तो यह गढ़ी के आकार ही से नाम की सार्थकता करती है। दूसरे यहाँ बंदर भी इतने हैं कि यह मंदिर वास्तव में उनका गढ़

दिखाई देता है। हनुमानगढ़ी एक ऊँचे टीले पर बनी हुई है; अनुमान पचास साठ सीढ़ियाँ चढ़ने पर हनुमानजी के दर्शन नसीब होते हैं। गढ़ी के मध्य में पत्थर का छोटा सा मंदिर है। उसी में हनुमानजी विराजते हैं। यह मूर्ति वीरासन से बैठी हुई है। दूसरी छोटी मूर्ति और भी है जो पुरानी कही जाती है और जो पुष्पों में छिपी रहती है। मंगलवार के मंगलवार यहाँ मेला लगता है। पाठ पूजन करनेवाले यहाँ दो चार यात्री भी आया जाया करते हैं। यहाँ के बैरागी बड़े मालदार और जबरदस्त समझे जाते हैं।

कहते हैं कि यह गढ़ी पहले गुसाईं संन्यासियों के अधिकार में थी, बैरागियों ने उन्हें अधिकारच्युत कर दिया। सआदत अलीखाँ के समय गढ़ी की नींव पड़ी थी और वाजिद अली के समय यह दृढ़ बनाई गई और जगह जगह मोरचे तैयार किए गए थे, जो अभी तक वर्तमान हैं। गढ़ी में हजारों बैरागी हैं। नीचे कई मकान भी 'गुफा' की तरह बने हुए हैं जिनका ठीक ठीक भेद गढ़ी के प्रधान बैरागियों के सिवाय अन्य पुरुष नहीं जान सकता।

संवत् १९१२ के आषाढ़ में असहिष्णु मुसलमानों को यह सह्य नहीं हुआ कि नवाबी के समय हिंदुओं का इतना ऊँचा मंदिर बने। इसी लिये लड़ने का बहाना किया कि गढ़ी के नीचे हमारी मसजिद थी जिसको बैरागियों ने तोड़ दिया है। हम उनके मंदिर को तोड़ेंगे। मदांध मुसलमानों ने अपने विचार

को काम में लाने के लिये जिहाद का झंडा खड़ा कर दिया और मार काट का हल्ला मचा दिया। बैरागियों और यवनों की कई छोटी छोटी लड़ाइयों के बाद मौलवी अमीर अली कई हजार मुसलमानों को साथ ले गढ़ी पर चढ़ दौड़े। बुद्धिमानों के मना करने पर भी न माने। अवध में जिहाद की धूम मच गई। गढ़ी की रक्षा के निमित्त हिंदू भी सचेष्ट हुए और इधर उन लोगों ने भी जोर पकड़ा, शाही फरमान को भी न माना। सूजागंज में लड़ाई हुई। कमियार के ठाकुर शेर-बहादुर सिंह ने मौलवी को खेत रखा और मुसलमानों को गढ़ लेना कठिन हो गया। तब से हनुमानगढ़ी अयोध्या का प्रधान स्थान हो रहा है।

हनुमानगढ़ी के ठीक सामने स्वर्गीय महाराज मानसिंह की धर्म्मपत्नी का बनवाया हुआ राजद्वार नाम का मंदिर है। चमत्कार में चाहे वह गढ़ी के तुल्य न हो पर ऊँचाई और सफाई में न्यून नहीं है। महारानी विमल कीर्ति का स्मारक है। अयोध्यानरेश नए स्थान बनवाने के साथ साथ यदि पुरानों पर भी कृपा किया करें तो उनका अधिक यश हो। यह मंदिर और गुप्तार घाट के स्थान महाराज की उपेक्षा से रोगग्रस्त के समान दंडायमान हैं। स्वर्गद्वार घाट एक प्रसिद्ध स्थान है। स्नान का बड़ा माहात्म्य है। इसी ओर बस्ती भी है। इधर से अयोध्या देखने में सुंदर लगती है, घाट पर की मंदिरमाला मानो अपने घरू भेद को गुप्त कर रही है और

औरंगजेब की मसजिद का मीनार उसे प्रकट करने को मुँह बा रहा है। पास ही नागेश्वरनाथ का मंदिर है। बहुत बड़ा न होने पर भी माहात्म्य में बड़ा है। शिवालय का अर्घा (जलहरी) दर्सनीय है। कहते हैं, अति प्राचीन समय का है। "कनकभवन" यहाँ सब में बड़ा और सबसे अच्छा मंदिर है। उसे टीकमगढ़ के महाराज ने हाल ही में बनवाया है। अयोध्या के योग्य यही एक मंदिर है। मूर्ति भी तदनुरूप और शृंगार भी वैसा ही है।

यों तो अयोध्या में मेले कई होते हैं पर सबसे बड़ा रामनवमी का है। दूर दूर से प्रति वर्ष लाखों आदमी आते हैं और लाखों ही का व्यापार होता है। देहाती बुरी तरह टूटते हैं महंत और दूकानदार खूब लूटते हैं। सप्ताह भर का कमाई वर्ष दिन तक खाते हैं। मेला मैले (ये अतःकरण के मैले नहीं—हमसे अच्छे हैं) लोगों का है किंतु दर्शनीय है। अवध के ग्राम्य चित्र की प्रदर्शनी है। रामनवमी के दिन जो इस दशा में भी यहाँ आनंद होता है सो अन्यत्र कहाँ? चारों ओर सीताराम की ध्वनि और संत-समागम का अलभ्य लाभ रहता है। भगवान की पूर्ण कृपा बिना ऐसे अवसर में अयोध्या के दर्शन नहीं हो सकते। वे धन्य हैं जो इस विषय में कृतकार्य्य होते हैं।

अयोध्या के माहात्म्य भी कई हैं। प्रचलित माहात्म्य रुद्रयामल तंत्रोक्त है। यात्रा के प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। एक दिन

में अंतर्गृही, पक्ष तथा मास भर में अयोध्या के आस पास के सब तीर्थों की यात्रा हो सकती है। अयोध्या में पाठशालाएँ भी अनेक हैं। सर्वोत्तम चौधरी गुरुचरणलाल जी की है। कहने को अयोध्या में रामआसरे सभी महात्मा हैं; पर थोड़े दिन हुए बाबा माधोदास, बाबा रघुनाथदास और तिवाड़ी जी आदि यहाँ अच्छे अच्छे पुरुषरत्न हो चुके हैं❀।

❀ जिस समय यह लेख लिखा गया था उस समय से वर्तमान काल की अयोध्या में बड़ा अंतर पड़ गया है। संपादक

(५) धृति और क्षमा

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥

महर्षि मनु ने कहा है कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शोच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—धर्म्म के ये दश लक्षण हैं। जिसमें ये लक्षण विद्यमान हों उसी को धर्म्मात्मा समझना चाहिए।

"धृति" सबसे पहला धर्म्म का लक्षण है। धर्म्म-पथ में अग्रसर होने के लिये सबसे प्रथम धृति का पाथेय चाहिए। धर्म्ममंदिर में प्रविष्ट होने के समय सबसे पहले धृतिमान् की पूछ होती है। जिसके पास धृति नहीं, उसके पास धर्म्म भी नहीं होता। क्षमा आदि सब गुणों से प्रथम 'धृति' का नाम लेकर महर्षि मनु ने इसी बात को सूचित किया है। इसलिये आज हम भी और लक्षणों से प्रथम इसी का विचार करते हैं।

स्मार्त टीकाकारों ने धृति शब्द का अर्थ बहुधा संतोष किया है और किसी किसी ने इसका अर्थ धैर्य भी लिखा है। दार्शनिक विचार से दोनों ही अर्थ ठीक है; क्योंकि दोनों का एक ही मूल विशुद्ध विचार है और फल भी एक ही धर्म्मप्रेम की प्रबलता वा सात्त्विक भाव की प्रगाढ़ता है। यद्यपि दोनों के स्वरूप में कुछ पार्थक्य है, पर सूक्ष्म विचार करने पर दोनों एक

विचार में परिणत हो जाते हैं और इनकी पृथक् सत्ता का लेश तक नहीं रहता।

चाहे धैर्य और संतोष को कोई दार्शनिक एक ही अर्थ के अभिव्यंजक समझ उनका फल भी एक बतलावे, पर हमें तो इस स्थान पर धृति शब्द का अर्थ धैर्य ही मनोहर और युक्तियुक्त लगता है, संतोष नहीं। इसका कारण यह न समझना चाहिए कि आजकल के देशहितैषियों के समान हम संतोष को पुरुषार्थ का परम शत्रु और भारत के सत्यानाश का मूल समझते हैं, वरंच हमारी समझ में संतोष एक बहुमूल्य वस्तु है। वह धर्म की पहली सीढ़ी नहीं ठहर सकता क्योंकि जब मनुष्य धर्ममंदिर पर कुछ ऊँचे चढ़ने का कष्ट उठा ले, तब कहीं संतोष महाराज के दर्शन होते हैं, सो भी सहज में नहीं।

वे लोग भूलते हैं जो संतोष को अवनति का मूल ठहराते हैं। संतोष अवनति का मूल नहीं, वरंच परमोन्नति का कारण है। यह संतोषी ही की सामर्थ्य है कि जीव को ब्रह्म पद तक पहुँचा देता है। संतोष वह शक्ति है जिससे ईश्वरीय शक्ति पर अपना अधिकार हो जाय। संतोषी पुरुष के दो हाथ और दो पैर रुकें तो रुक सकते हैं पर उसके लिये सहस्रबाहु और सहस्रपाद चलने लगते हैं। कायर, अलस और कर्महीन को यदि कोई संतोषी समझ बैठे तो बड़ी भूल है। संतोषी वह है कि जिसके पास रत्ती भर स्वार्थ न हो और परार्थ या परमार्थ की गहरी पूँजी साथ हो।

इस समय जब कि—

"हुई है वही जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा" ॥

अथवा—

"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सब के दाताराम ॥"

इत्यादि वाक्यों की झड़ी लगाकर लोग संतोष की महिमा दिखा रहे हैं, तब देखना चाहिए इनमें सच्चे संतोषी कितने हैं। परीक्षा करने पर सिद्ध होगा कि सच्चे सन्तोष का कहीं नाम नहीं केवल प्रतारणा है। पहले महात्माओं का सन्तोष स्वार्थ में था और अब के इन महापुरुषों का परमार्थ में है। उस समय के संतोषी भीष्म, प्रह्लाद, रतिदेव आदि महापुरुष थे, जिनके सत्कर्म का हम पर बड़ा भारी ऋण है, और इस समय के संतोषियों में हम हैं जो रात-दिन स्वार्थ की झोली भर रहे हैं और परोपकार वा परमार्थ के समय संतोष की शरण पकड़ लेते हैं, जिससे कुछ करना न पड़े।

जबानी जमा खर्च कोई चाहे जितना करे पर इसमें संदेह नहीं कि अब यहाँ संतोष की केवल कथा शेष रह गई। संतोष के साथ परमार्थ भी बिदा हुआ। अब यहाँ इस बात के समझनेवाले कहाँ कि—

"सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।"

ध्रुव प्रह्लाद के समान ईश्वर के सच्चे विश्वासी और विहित कर्म के करने वाले ही इस तत्त्व को समझ सकते हैं कि—

"संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शांतचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥"

अर्थात् जो सुख संतोषामृत से तृप्त शान्तचित्त पुरुषों को है वह इधर-उधर भटकनेवाले धन के लोभियों को कहाँ ?

इसलिये हमने कहा है कि संतोष धार्मिक की परिपक्व दशा में हो सकता है, आरम्भ में नहीं, क्योंकि वह धर्माचरण का फल है और इसलिये यह कहना भी कोई अनुचित नहीं कि इसके अधिकारी विरले ही जिज्ञासु पुरुष हो सकते हैं, सब नहीं हो सकते। सुतरां, प्रस्तुत विषय में धृति का अर्थ धैर्य ही ठीक ठहरता है, क्योंकि इस समान धर्म का सोपान भी धर्माचार्यों की अधिकार-प्रणाली के कौशल से खाली नहीं है।

धृति वा धैर्य उस धारणा का नाम है जो मनुष्य को अपने विचार पर दृढ़ बनाये रखे। अपनी बात से कदाचित् भी हटने न दे। चाहे कोई निंदा करे वा स्तुति, चाहे लक्ष्मी की प्राप्ति हो वा विनाश, चाहे प्राण सदैव बने रहें वा आज ही निकल जायँ इसकी कुछ चिंता नहीं, पर धीर पुरुष अपनी बात से नहीं हटता। वह अपने स्वीकृत न्याय्य मार्ग का परित्याग नहीं करता। राजर्षि भर्तृहरि के सिद्धांत के समान उसका विचार भी सदैव दृढ़ रहता है—

"नीति-निपुण नर धीर वीर कछु सुजस कहो किन।
अथवा निंदा कोटि करौ दुर्जन छिन ही छिन ॥

संपति हू चलि जाहु रहौ अथवा अंगणित धन।
अब हि मृत्यु किन होहु होहु अथवा निश्चल तन॥
पर न्याय-वृत्ति को तजत नहिं जो विवेक गुण-ज्ञान-निधि।
यह संग सहायक रहत नित देत लोक-परलोक-सिधि॥"

धर्म का मार्ग बड़ा कठिन है। उसमें मनुष्य की बड़ी भयानक परीक्षा होती है। उस आपत्काल में बचने के लिए धैर्य की बड़ी भारी आवश्यकता है। यदि विपत्ति के समय धैर्य ज्यों का त्यों बना रहा, तब तो विपत्ति की भी वहीं इतिश्री समझिए और यदि उस समय कहीं धैर्यच्युति हो गई, तब फिर दुःखों का कहीं अंत नहीं है। इसी लिये हमारे कवियों ने विपत्काल को धैर्य की परीक्षा का उत्तम काल ठहराया है, जैसे—

"विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा"

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपत्काल परखिए चारी॥

इत्यादि वाक्य हैं।

जो पुरुष अपने को धार्मिक वा हरिभक्त बनाया चाहे उसे समझ लेना चाहिये कि एक दिन उसे प्रह्लाद के समान अग्नि में बैठना पड़ेगा, ध्रुव के समान लोभ का त्याग करना होगा और भीष्म के समान जीवन परार्थ बिताना पड़ेगा। वह युधिष्ठिर के सदृश पुनः पुनः अपमानित होगा, द्रौपदी के समान सताया जायगा और उसको हरिश्चंद्र की तरह पुत्र-कलत्र आदि से हाथ धोने पड़ेंगे एवं रंतिदेव को नाईं भोजन के भी लाले पड़ जायँगे, उसे कुमारिल भट्ट के समान जीते जी जलना पड़ेगा. शंकर के

समान देश में निरंतर भ्रमण करना होगा और मीरा के समान हर्षपूर्वक हलाहल भी पान करना पड़ेगा। यदि ऐसे कार्य के लिए तुम बद्धपरिकर हो, तब तो तुम्हारे अधिकारी होने में संदेह नहीं। और यदि इसके लिए तुम तैयार नहीं हो, तो समझ रखो कि यह मार्ग सहज नहीं है—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदंति।"

भगवद्गीता में सात्त्विकी, राजसी, तामसी भेद से धृति तीन प्रकार की कही है जैसे—

"धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी, धृतिः सा पार्थ राजसी॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥"

(१८-३३, ३४, ३५)

इसका तात्पर्य यह है कि वह धृति सात्त्विकी है (मोक्ष की साधन) जो अहैतुकी हो, जैसे प्रह्लाद की। वह धृति राजसी है (त्रिवर्ग की साधन) जो हैतुकी हो, जैसे ध्रुव की और वह धृति तामसी है जिससे मद-मोहआदि का धारण किया जाय, जैसे दुर्योधन की। सबसे उत्तम प्रह्लाद का विचार है जिसमें तन्मयता के अतिरिक्त किसी कामना की गंध तक नहीं। इसी लिए वह सात्त्विक और मोक्ष का उपयोगी समझा गया। ध्रुव का विचार

उससे गिरा हुआ है क्योंकि उसमें त्रिवर्ग के फल की इच्छा बनी हुई है अत: वह राजस है और स्वर्ग का उपयोगी है। दुर्य्योधन का विचार सबसे निकृष्ट है, क्योंकि उसने अहंकार के वशवर्ती जिस तामस भाव को ग्रहण कर लिया उसे नहीं छोड़ा। वह त्रिवर्ग का कारण नहीं, इस लोक का कारण है। जिस प्रकार प्रह्लाद और ध्रुव ने जो बात पकड़ी थी अंत तक उसका निवाह किया उसी प्रकार महावीर दुर्य्योधन ने भी मृत्यु पर्यन्त अपनी इस बात की रक्षा की कि—

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।"

अपने इस तामस विचार की रक्षा ही के कारण दुर्योधन ने स्वर्गलोक पाया था। हा! आज इस देश में तामसी धारणा का भी अभाव हो गया। जरा सी बात में सबकी धैर्यच्युति हो जाती है, मानो भारत की राज्यश्री के साथ धृतिदेवी भी यहाँ से कूच कर गई।

क्षमा धर्म्म का दूसरा लक्षण है। जो पुरुष धीर होता है, क्षमा भी उसी को ग्रहण करती है। धैर्य के बिना क्षमाशील होना कठिन ही नहीं, वरंच असम्भव है।

परापराध सहन करने का नाम क्षमा है। जैसे कि बृहस्पति जी कहते हैं—

वाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥

अर्थात् किसी के दुर्वचन कहने पर भी या मार देने पर न तो आप क्रोधित होता है और न उसे मारता है इस गुण को क्षमा कहते हैं। उस पुरुष का नाम क्षमाशील है, जो दुःखित किए जाने पर भी अचल, अटल बना रहे, धर्म्ममार्ग से विचलित न हो।

यों तो संसार में सभी लोग दूसरों के अपराध सहन किया करते हैं। प्रबल पुरुषों से पुनः पुनः तिरस्कृत होने पर भी बिचारे दुर्बल पुरुष कुछ कहने का साहस नहीं करते। क्षमता-शाली अत्याचारी राजपुरुषों से प्रपीड़ित होने पर भी दीन प्रजा बारंबार रोकर चुप रह जाती है किंतु यह सहनशीलता क्या क्षमा कही जा सकती है? कभी नहीं। क्योंकि क्षमा नाम उस गुण का है, जिससे शक्तिशाली पुरुष शक्ति रखने पर दूसरे के अपराध क्षमा कर दे और जो पुरुष कायरता वा असामर्थ्य से उस कार्य के करने में स्वभावतः असमर्थ है, उसको क्षमा क्षमा कहलाने योग्य नहीं है।

हाँ, यदि किसी के दुःख पहुँचाने पर उसके अंतःकरण में अपने शत्रु के प्रति किसी प्रकार का कुभाव वा प्रतिकार की इच्छा तक उत्पन्न न हो और उस कार्य के लिए यह घृणार्ह न समझा जाय, तो वह पुरुष भी निःसंदेह क्षमावान् है, क्योंकि जिस बात की शक्ति उसमें विद्यमान थी उससे उसने काम नहीं लिया। माना कि वह दीन पुरुष जिसको हमने धनमद से मत्त होकर अभी मारा है, रोकर वा चिल्लाकर हमारी कुछ हानि

नहीं कर सकता तो भी क्या इस बात के लिये वह प्रशंसनीय नहीं है कि वह रो सकता था, पर रोया नहीं। हमारा बुरा चिंतन भी कर सकता था पर उसने वैसा नहीं किया, प्रत्युत उसके चित्त में इसके प्रतिकूल विकार तक न हुआ!

गृहस्थ के लिए क्षमा अत्यावश्यक है जैसा कि—

"गृहस्थस्तु क्षमायुक्तो न गृहेण गृही भवेत्।"

अर्थात् केवल घर बनाने से कोई गृहस्थ नहीं होता, वरन् क्षमा-युक्त होने से गृहस्थ बनता है। यदि गृहस्थ क्षमाशील न हो, तो दिन-रात उसको कलह करना पड़े और गार्हस्थ का सब सुख मिट्टी में मिल जाय, मुकद्दमेबाजी में समस्त धन लुट जाय और फिर कोई कौड़ी को भी न पूछे कि आपका क्या हाल है। इसलिए नीतिविशारदों ने कहा है कि जिसके हाथ में क्षमा-रूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या कर सकता है।

महाभारत में लिखा है कि वनवास के समय अपनी शोचनीय दशा देखकर वीरनारी द्रौपदी से चुप न रहा गया। कौरवों से युद्ध करने के लिए उसने महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार के तीव्र वचन सुनाए जिनको सुनकर एक बार तो कायर पुरुष भी अपनी जान पर खेल जाय और आगा-पीछा सोचे बिना युद्ध कर बैठे। किंतु धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर उन असह्य वचनों को जो निर्वासिता तिरस्कृता और सुदुःखिता विदुषी द्रुपदनन्दिनी के मुँह से निकले थे सुनकर कुछ भी क्रोधित न हुए पर उन्होंने अनेक प्रकार से क्षमा ही की महिमा दिखाई जिसका तात्पर्य है कि

क्षमा से बढ़कर कोई धर्म्म नहीं। क्षमा ही से यह जगत् ठहरा हुआ है। विवेकी पुरुष को निरंतर क्षमा ही करना चाहिए। क्षमावान् का लोक और परलोक सब सुधरता है। यथा—

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥
क्षंतव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्व्वं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमर्हंति परत्र च शुभां गतिम् ॥"

यह सिद्धांत है कि जो जितना दुर्बल होता है, वह उतना ही क्रोधी होता है और जो जितना बली होता है, वह उतना ही क्षमावान् है। गरुड़पुराण में क्षमाशील पुरुषों में एक दोष भी दिखाया है। वह यह कि—

"एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यत एनं क्षमतायुक्तमशक्तं मन्यते जनः।"

अर्थात् क्षमाशील पुरुषों में एक ही दोष पाया जाता है, दूसरा नहीं। इस क्षमायुक्त को लोग असमर्थ समझते हैं।

सच है, दुर्ज्जन लोग क्षमावान् को अवश्य ही अशक्त मानते हैं। वे समझते हैं कि इसने हमारे दोष क्षमा नहीं किए, वरंच इसकी ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी कि हमें दंड देता। इसलिये वे उसे बार बार सताते हैं, खिझाते हैं और नाना प्रकार के

दु:ख पहुँचाते हैं। कितने नराधमों को यह कहते देखा है कि ईश्वर कोई चीज नहीं है। यदि वह होता तो क्या हमें पापों का दंड न देता? पर वे इस बात को नहीं समझते कि यह सब उस कृपालु की अपार दया का फल है जो दंड देने में विलंब कर रहा है।

कभी-कभी क्षमा से ऐसे भी कार्य हो जाया करते हैं जिनका प्रकारांतर से होना बहुत ही कठिन है। एक बार आगरे में महात्मा हरिदास जी यमुना से स्नान कर अपने स्थान पर आते थे। मार्ग में शाही किला था जिस पर नवाब खानखाना बैठे हुए उनकी ओर घृणा से देखते थे। नवाब साहब को यह बात बहुत बुरी लगी कि महात्मा अपने शरीर को मुसलमानों के स्पर्श से बचाते आ रहे हैं। इसलिए इन्होंने उनके ऊपर घृणा से थूक दिया और वे इनकी ओर देखकर फिर यमुना की ओर चले गए। थोड़ी देर के बाद नवाब ने देखा कि फिर भी वे स्नान कर उसी तरह आते हैं। किले के नीचे आने की देर थी कि फिर इन्होंने उन पर थूका और वे देखकर उसी तरह चुपचाप लौट गए।

इस प्रकार वे स्नान कर आते रहे और वे उन पर थूकते रहे। जब वे ग्यारहवीं बार आए तो नवाब का भाव बदल गया। उन्होंने सोचा कि चिउँटी को भी पैर के नीचे दबाने से वह काटती है परंतु मनुष्य होकर भी इन्होंने मुझे कुछ भी न कहा! क्या ये मुझे जबान से भी कुछ न कह सकते थे पर नहीं ये

सच्चे खुदादोस्त हैं। इनसे अपने गुनाह माफ करवाने चाहिए। यह सोचकर ये उनके चरणों में जा गिरे और उनसे अपने अपराधों की क्षमा चाही। स्वामी हरिदासजी प्रसन्न हो गए और उन्होंने उपदेश दे इनको हरिभक्त बनाया, और ऐसा बनाया कि जिसकी भक्ति देखकर हिंदुओं को भी कहना पड़ा कि "हरिभक्त खानखाना धन्य है।" यदि स्वामीजी उस दिन क्षमा न करते तो आज हम लोगों को खानखाना के भगवद्भक्तिमय सरस पद्य देखने को न मिलते। इसलिये किसी ने बहुत अच्छा कहा है कि—

"मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ॥"

अर्थात् मृदुता से मनुष्य कठोर को काट सकता है और कोमल को भी काट सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मृदु से साध्य न हो। इसलिये मृदु को सबसे तीव्र समझना चाहिए। मसल है कि ठंढा लोहा गरम को काट सकता है, गरम ठंढे को नहीं।



सरदार पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह

(६) कन्यादान

नयनों की गंगा

धन्य हैं वे नयन जो कभी कभी प्रेम-नीर से भर आते हैं। प्रति दिन गंगा-जल से तो स्नान होता ही है परंतु जिस पुरुष ने नयनों की प्रेम-धारा में कभी स्नान किया है वही जानता है कि इस स्नान से मन के मलिन भाव किस तरह बह जाते हैं; अंतः-करण कैसे पुष्प की तरह खिल जाता है; हृदय-ग्रंथि किस तरह खुल जाती है; कुटिलता और नीचता का पर्वत कैसे चूर-चूर हो जाता है। सावन-भादों की वर्षा के बाद वृक्ष जैसे नवीन नवीन कोपलें धारण किए हुए एक विचित्र मनोमोहिनी छटा दिखाते हैं उसी तरह इस प्रेम-स्नान से मनुष्य को आंतरिक अवस्था स्वच्छ, कोमल और रसभीनी हो जाती है। प्रेम-धारा के जल से सींचा हुआ हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। हृदयस्थली में पवित्र भावों के पौधे उगते, बढ़ते और फलते हैं। वर्षा और नदी के जल से तो अन्न पैदा होता है; परंतु नयनों की गंगा से प्रेम और वैराग्य के द्वारा मनुष्य-जीवन को आग और बर्फ से बपतिस्मा मिलता है अर्थात् नया जन्म होता है—मानो प्रकृति ने हर एक मनुष्य के लिये इस नयन-नीर के रूप में मसीहा भेजा

है, जिससे हर एक नर नारी कृतार्थ हो सकते हैं। यही वह यज्ञोपवीत है जिसके धारण करने से हर आदमी द्विज हो सकता है। क्या ही उत्तम किसी ने कहा है :—

हाथ खाली मर्दुमे दीद: बुतों से क्या मिलें।
मोतियों की पंज-ए-मिजगाँ में इक माला तो हो॥

आज हम उस अश्रु-धारा का स्मरण नहीं करते जो ब्रह्मानंद के कारण योगी जनों के नयनों से बहती है। आज तो लेखक के लिये अपने जैसे साधारण पुरुषों की अश्रु-धारा का स्मरण करना ही इस लेख का मंगलाचरण है। प्रेम की बूँदों में यह असार संसार मिथ्या रूप होकर घुल जाता है और हम पृथ्वी से उठकर आत्मा के पवित्र नभो-मंडल में उड़ने लगते हैं। अनुभव करते हुए भी ऐसी घुली हुई अवस्था में हर कोई समाधिस्थ हो जाता है; अपने आपको भूल जाता है; शरीराध्यास न जाने कहाँ चला जाता है; प्रेम की काली घटा ब्रह्म-रूप में लीन हो जाती है। चाहे जिस शिल्पकार, चाहे जिस कला-कुशल-जन, के जीवन को देखिए उसे इस परमावस्था का स्वयं अनुभव हुए बिना अपनी कला का तत्त्व ज्ञान नहीं होता। चित्रकार सुंदरता को अनुभव करता है और तत्काल ही मारे खुशी के नयनों में जल भर लाता है। बुद्धि, प्राण, मन और तन सुंदरता में डूब जाते हैं। सारा शरीर प्रेम-वर्षा के प्रवाह में बहने लगता है। वह चित्र ही क्या जिसको देख देखकर चित्रकार की आँखें इस मदहोश करनेवाली ओस से तर न हुई

कवि को देखिए, अपनी कविता के रस-पान से मत्त होकर वह अंत:करण के भी परे आध्यात्मिक नभो-मंडल के बादलों में विचरण करता है। ये बादल चाहे आत्मिक जीवन के केंद्र हों, चाहे निर्विकल्प समाधि के मंदिर के बाहर के घेरे, इनमें जाकर कवि जरूर सोता है। उसका अस्थि-मांस का शरीर इन बादलों में घुल जाता है। कवि वहाँ ब्रह्म-रस को पान करता है और अचानक बैठे बिठाए सावन-भादों के मेघ की तरह संसार पर कविता की वर्षा करता है। हमारी आँखें कुछ ऐसी ही हैं। जिस प्रकार वे इस संसार के कर्त्ता को नहीं देख सकतीं उसी प्रकार आध्यात्मिक देश के बादल और धुंध में सोए हुए कलाधर पुरुष को नहीं देख सकतीं। उसकी कविता जो हमको मदमत्त करती है वह एक स्थूल चीज है और यही कारण है कि जो कलानिपुण जन प्रति दिन अधिक से अधिक उस आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करता है वह अपनी एक बार अलापी हुई कविता को उस धुन से नहीं गाता जिससे वह अपने ताजे से ताजे दोहों और चौपाइयों का गान करता है। उसकी कविता के शब्द केवल इस वर्षा के बिंदु हैं। यह तो ऐसे कवि के शांतरस की बात हुई। इस तरह के कवि का वीररस इसी शांतरस के बादलों की टक्कर से पैदा हुई बिजली की गरज और चमक है। कवि को कविता में देखना तो

साधारण काम है; परंतु आँखवाले उसे कहीं और ही देखते हैं। कवि की कविता और उसका आलाप उसके दिल और गले से नहीं निकलते। वे तो संसार के ब्रह्म-केंद्र से आलापित होते है। केवल उस आलाप करनेवाली अवस्था का नाम कवि है। फिर चाहे वह अवस्था हरे हरे बाँस की पोरी से, चाहे नारद की वीणा से, और चाहे सरस्वती के सितार से बह निकले। वही सच्चा कवि है जो दिव्य-सौंदर्य के अनुभव में लीन हो जाय और लीन होने पर जिसकी जिह्वा और कंठ मारे खुशी के रुक जायँ, रोमांच हो उठे, निजानंद में मत्त होकर कभी रोने लगे और कभी हँसने।

हर एक कला-निपुण पुरुष के चरणों में यह नयनों की गंगा सदा बहती है। क्या यह आनंद हमको विधाता ने नहीं दिया! क्या उसी नीर में हमारे लिए राम ने अमृत नहीं भरा! अपना निश्चय तो यह है कि हर एक मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी अद्भुत प्रेम-कला से युक्त होता है। किसी विशेष कला में निपुण न होते हुए भी राम ने हर एक हृदय में प्रेम-कला की कुंजी रख दी है। इस कुंजी के लगते ही प्रेम-कला की संपूर्ण सभूति अज्ञानियों और निरक्षरों को भी प्राप्त हो सकती है।

कवि सदा बादलों से घिरा हुआ और तिमिराच्छन्न देश में रहता है। वहीं से चले हुए बादलों के टुकड़े माता, पिता, भ्राता, भगिनी, सुत, दारा इत्यादि के चक्षुओं पर आकर छा जाते हैं। मैंने अपनी आँखों इनको छम छम बरसते देखा है।

जिस आध्यात्मिक देश में कवि, चित्रकार, योगी, पीर, पैगंबर, औलिया विचरते हैं और किसी और को घुसने नहीं देते, वह सारे का सारा देश इन आम लोगों के प्रेमाश्रुओं से घुल घुल कर बह रहा है। आओ, मित्रों! स्वर्ग का आम नीलाम हो रहा है।

सर वाल्टर स्काट अपनी "लेडी आव दि लेक" नामक कविता में बड़ी खूबी से उन अश्रुओं की प्रशंसा करते हैं जो अश्रु पिता अपनी पुत्री को आलिंगन करके उसके केशों पर मोती की लड़ी की तरह बखेरता है। इन अश्रुओं को वे अद्भुत दिव्य प्रेम के अश्रु मानते हैं। सच है, संसार के गृहस्थ मात्र के संबंधों में पिता और पुत्री का संबंध दिव्य प्रेम से भरा है। पिता का हृदय अपनी पुत्री के लिये कुछ ईश्वरीय हृदय से कम नहीं।

पाठक, अब तक न तो आपको और न मुझे ही ऊपर लिखी हुई बातों का ऊपरी दृष्टि से कन्यादान के विषय से कुछ संबंध मालूम होता है। तो उसका कारण केवल यह है कि ऊपर और नीचे का लेख लेखक की एक विशेष देश-काल-सबंधी मनोलहरी है। पता लगे चाहे न लगे, कन्यादान से संबंध अवश्यमेव है।

एक समय आता है जब पुत्री को अपने माता-पिता का घर छोड़कर अपने पति के घर जाना पड़ता है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधिं पतिवेदनम् ।

उर्वारुकमिव बंधनादितो मुक्षीयमामुतः । शु० यजु०

"आओ, आज हम सब मिलकर अपने पतिवेदन उस त्रिकाल-दर्शी सुगंधित पुरुष का यज्ञ करें जिससे, जैसे दाना पकने पर अपने छिलके से अलग हो जाता है, वैसे ही हम इस घर के बंधनों से छूटकर अपने पति के अटल राज को प्राप्त हों।"

प्राचीन वैदिक काल में युवती कुवाँरी लड़कियाँ यज्ञाग्नि की परिक्रमा करती हुईं ऊपर की प्रार्थना ईश्वर के सिंहासन तक पहुँचाया करती थीं।

हर एक देश में यह बिछोड़ा भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। परंतु इस बिछोड़े में त्याग-अंश नजर आता है। योरप में आदि काल से ऐसा रवाज चला आया है कि एक युवती कन्या किसी वीर, शुद्धहृदय और सोहने नौजवान को अपना दिल चुपके चुपके पेड़ों की आड़ में, या नदी के तट पर, या वन के किसी सुनसान स्थान में, दे देती है। अपने दिल को हार देती है मानो अपने हृत्कमल को अपने प्यारे पर चढ़ा देती है; अपने आपको त्याग कर वह अपने प्यारे में लीन हो जाती है। वाह! प्यारी कन्या तूने तो जीवन के खेल को हारकर जीत लिया। तेरी इस हार की सदा संसार में जीत ही रहेगी। उस नौजवान को तू प्रेम-मय कर देती है। एक अद्भुत प्रेम-योग से उसे अपना कर लेती है। उसके प्राण की रानी हो जाती है। देखो! वह नौजवान दिन-रात इस धुन में है कि

किस तरह वह अपने आपको उत्तम से उत्तम और महान् से महान् बनाये—वह उस बेचारी निष्पाप कन्या के शुद्ध और पवित्र हृदय को ग्रहण करने का अधिकारी हो जाय। प्रकृति ऐसा दान बिना पवित्रात्मा के किसी को नहीं दे सकती। नौजवान के दिल में कई प्रकार की उमंगें उठती हैं। उसकी नाड़ी नाड़ी में नया रक्त, नया जोश और नया जोर आता है। लड़ाई में अपनी प्रियतमा का खयाल ही उसको वीर बना देता है।

उसी के ध्यान में यह पवित्र दिल निडर हो जाता है। मौत को जीतकर उसे अपनी प्रियतमा को पाना है। ऊँचे से ऊँचे आदर्श को अपने सामने रखकर यह राम का लाल तन-मन से दिन-रात उसके पाने का यत्न करता है। और जब उसे पा लेता है तब हाथ में विजय का फुरेरा लहराते हुए एक दिन अकस्मात् उस कन्या के सामने आकर खड़ा हो जाता है। कन्या के नयनों से गंगा बह निकलती है और उस लाल का दिल अपनी प्रियतमा की सूक्ष्म प्राणगति से लहराता है, काँपता है, और शरीर ज्ञानहीन हो जाता है। बेबस होकर वह उसके चरणों में अपने आपको गिरा देता है। कन्या तो अपने दिल को दे ही चुकी थी; अब इस नौजवान ने आकर अपना दिल अर्पण किया। इस पवित्र प्रेम ने दोनों के जीवन को रेशमी डोरों से बाँध दिया—तन-मन का होश अब कहाँ है। मैं तू और तू मैं वाली मदहोशी हो गई। यह जोड़ा मानो ब्रह्म में

लीन हो गया; इस प्रेम में कदूरत लेश मात्र नहीं होती। विक्टर ह्यूगो ने ले-मिज़्राबल में मेरीयस और कौसट के ऐसे मिलाप का बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। चाँदनी रात है। मंद मंद पवन चल रही है। वृक्ष अजीब लीला में आसपास खड़े हैं। और यह कन्या और नौजवान कई दिन बाद मिले हैं। मेरीयस के लिये तो कुल संसार इस देवी का मंदिर-रूप हो रहा था। अपने हृदय की ज्योति को प्रज्वलित करके उस देवी की वह आरती करने आया है। कौसट घास पर बैठी है। कुछ मीठी मीठी प्रेम भरी बातचीत हो रही है। इतने में सरसराती हवा ने कौसट के सीने से चीर उठा दिया। जरा सी देर के लिये उस बर्फ की तरह सफेद और पवित्र छाती को नग्न कर दिया। मगर मेरीयस ने फौरन अपना मुँह दूसरी ओर हटा लिया। वह तो देवी-पूजा के लिये आया है; आँख ऊपर करके नहीं देख सकता।

रोमियो और जूलियट नामक शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक में जूलियट ने किस अदाज से अपना दिल त्याग दिया और रोमियो के दिल की रानी हो गई!

वे किस्से-कहानियाँ जिनमें नौजवान शाहजादे अपना दिल पहले दे देते हैं अपवित्र मालूम होती हैं; और उनके लेखक प्रेम के स्वर्गीय नियम से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। कुछ शक नहीं, कहीं कहीं पर वे इस नियम को दरसा देते हैं, परंतु सामान्य लेखों में पुरुष का दिल ही तड़पता दिखलाते हैं। कन्या अपना

दिल चुपके से दे देती है। इस दिल के दे देने की खबर वायु, पुष्प, वृक्ष, तारागण इत्यादि को होती है। लैली का दिल मजनूँ की जात में पहले घुल जाना चाहिए और इस अभेदता का परिणाम यह होना चाहिए कि मजनूँ उत्पन्न हो—इस यज्ञ-कुंड से एक महात्मा (मजनूँ) प्रकट होना चाहिए। सोहनी मैंहीवाल* के क़िस्से में असली मैंहीवाल उस समय निकलता है जब कि सोहनी अपने दिल को लाकर हाजिर करती है। राँझा† हीर की तलाश में निकलता जरूर है; मगर सच्चा योगी वह तभी होता है जब उसके लिए हीर अपने दिल को बेले के किसी झाड़ में छोड़ आती है। शकुंतला जंगल की लता की तरह बेहोशी की अवस्था में ही जवान हो गई। दुष्यंत को देखकर अपने आपको खो बैठी। राजहंसों से पता पाकर दमयंती नल में लीन हो गई। राम के धनुष तोड़ने से पहले ही सीता

* पंजाब के प्रसिद्ध कवि फाजलशाह की रचित कविता में सोहनी मैंहीवाल के प्रेम का वर्णन है। सोहनी एक कलाल की कन्या थी और मैंहीवाल फारस के एक बड़े सौदागर का पुत्र था जो सोहनी के प्रेम में अपना सर्वस्व लुटाकर अपनी प्रियतमा के पिता के यहाँ भैंस चराने पर नौकर हो गया।

† यह भी पंजाब ही के प्रसिद्ध कवि वारेशाह की कविता की कथा है।

अपने दिल को हार चुकी। सीता के दिल के बलिदान का ही यह असर था कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम भगवान् वन वन में बारह वर्ष तक अपनी प्रियतमा के क्लेशनिवारणार्थ रोते फिरे।

योरप में कन्या जब अपना दिल ऊपर लिखे गए नियम से दान करती है तब वहाँ का गृहस्थ-जीवन आनंद और सुख से भर जाता है। जहाँ खुशामद और झूठे प्रेम से कन्या फिसली, थोड़ी ही देर के बाद गृहस्थाश्रम में दुख-दर्द और राग-द्वेष प्रकट हुए। प्रेम के कानून को तोड़कर जब योरप में उलटी गंगा बहने लगी तब वहाँ विवाह एक प्रकार की ठेकेदारी हो गया और समाज में कहीं कहीं यह खयाल पैदा हुआ कि विवाह करने से कुँवारा रहना ही अच्छा है। लोग कहते हैं कि योरप में कन्या-दान नहीं होता; परंतु विचार से देखा जाय तो संसार में कभी कहीं भी गृहस्थ का जीवन कन्या-दान के बिना सुफल नहीं हो सकता। योरप के गृहस्थों के दुखड़े तब तक कभी न जायँगे जब तक एक बार फिर प्रेम का कानून, जिसको शेक्सपियर ने अपने "रोमियो और जूलियट" में इस खूबी से दरसाया है, लोगों के अमल में न आवेगा। अतएव योरप और अन्य पश्चिमी देशों में कन्या-दान अवश्यमेव होता है। वहाँ कन्या पहले अपने आपको दान कर देती है; पीछे से गिरजे में जाकर माता, पिता या और कोई संबंधी फूलों से सजी हुई दूल्हन को दान करता है।

योरप में गृहस्थों की बेचैनी

आजकल पश्चिमी देशों में झूठी और जाहिरी शारीरिक आजादी के खयाल ने कन्या-दान की आध्यात्मिक बुनियाद को तोड़ दिया है। कन्या-दान की रीति जरूर प्रचलित है, परंतु वास्तव में उस रीति में मानो प्राण ही नहीं। कोई अखबार खोलकर देखो, उन देशों में पति और पत्नी के झगड़े वकीलों द्वारा जजों के सामने ते होते हैं। और जज की मेज पर विवाह की सोने की अँगूठियाँ, काँच के छल्लों की तरह द्वेष के पत्थरों से टूटता हैं। गिरजे में कल के बने हुए जोड़े आज टूटे और आज के बने जोड़े कल टूटे।

ऐसा मालूम होता है कि मौनोगेमी (स्त्री-व्रत) का नियम, जो उन लोगों की स्मृतियों और राज-नियमों में पाया जाता है, उस समय बनाया गया था जब वहाँ कन्या-दान आध्यात्मिक तरीके से होता था और गृहस्थों का जीवन सुखमय था।

भला सच्चे कन्यादान के यज्ञ के बाद कौन सा मनुष्य-हृदय इतना नीच और पापी हो सकता है। जो हवन हुई कन्या के सिवा किसी अन्य स्त्री को बुरी दृष्टि से देखे। उस कुरबान हुई कन्या की खातिर कुल जगत् की स्त्री-जाति से उस पुरुष का पवित्र संबंध हो जाता है। स्त्री-जाति की रक्षा करना और उसे आदर देना उसके धर्म का अंग हो जाता है। स्त्री-जाति में से एक स्त्री ने इस पुरुष के प्रेम में अपने हृदय की इसलिये आहुति दी है कि उसके हृदय

में स्त्री-जाति की पूजा करने के पवित्र भाव उत्पन्न हों, ताकि उसके लिये कुलीन स्त्रियाँ माता समान, भगिनी समान, पुत्री समान, देवी समान हो जायँ। एक ही ने ऐसा अद्भुत काम किया कि कुल जगत् की बहनों को इस पुरुष के दिल की डोर दे दी। इसी कारण उन देशों में मोनोगेमी (स्त्री-व्रत) का नियम चला। परंतु आजकल उस कानून की पूरे तौर पर पाबंदी नहीं होती। देखिए, स्वार्थ-परायणता के वश होकर थोड़े से तुच्छ भोगों की खातिर सदा के लिये कुँवारापन धारण करना क्या इस कानून को तोड़ना नहीं है। लोगों के दिल जरूर बिगड़ रहे हैं। ज्यों ज्यों सौभाग्यमय गृहस्थ-जीवन का सुख घटता जाता है त्यों त्यों मुल्की और इखलाकी बेचैनी बढ़ती जाती है। ऐसा मालूम होता है कि योरप की कन्याएँ भी दिल देने के भाव को बहुत कुछ भूल गई हैं। इसी से अलबेली भोली कुमारिकाएँ पार्लमेंट के झगड़ों में पड़ना चाहती हैं; तलवार और बंदूक लटकाकर लड़ने मरने को तैयार हैं। इससे अधिक योरप के गृहस्थ-जीवन की अशांति का और क्या सबूत हो सकता है?

सच्ची स्वतंत्रता

आर्यावर्त में कन्यादान प्राचीन काल से चला आता है। कन्यादान और पतिव्रत-धर्म दोनों एक ही फल-प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। आजकल के कुछ मनुष्य कन्यादान को गुलामी

की हँसली मान बैठे हैं। वे कहते हैं कि क्या कन्या कोई गाय, भैंस या घोड़ी की तरह बेजान और बेजबान वस्तु है जो उसका दान किया जाता है। यह अल्पज्ञता का फल है—सीधे और सच्चे रास्ते से गुमराह होना। ये लोग गंभीर विचार नहीं करते। जीवन के आत्मिक नियमों की महिमा नहीं जानते। क्या प्रेम का नियम सबसे उत्तम और बलवान् नहीं है? क्या प्रेम में अपनी जान को हार देना सबके दिलों को जीत लेना नहीं है। क्या स्वतंत्रता का अर्थ मन की बेलगाम दौड़ है, अथवा प्रेमाग्नि में उसका स्वाहा होना है? चाहे कुछ कहिए, सच्ची आजादी उसके भाग्य में नहीं, जो अपनी रक्षा खुशामद और सेवा से करता है। अपने आपको गँवाकर ही सच्ची स्वतंत्रता नसीब होती है। गुरु नानक अपनी मीठी जबान में लिखते हैं:—"जा पुच्छो सुहामनी किनी गल्लीं शौह पाइए। आप गँवाइए ताँ शौह पाइए और कैसी चतुराई"—अर्थात् यदि किसी सौभाग्यवती से पूछोगे कि किन तरीकों से अपना स्वतंत्रता-रूपी पति प्राप्त होता है तो उससे पता लगेगा कि अपने आपको प्रेमाग्नि में स्वाहा करने से मिलता है और कोई चतुराई नहीं चलती।

ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करना हर एक आर्य्यकन्या का आदर्श है। सच्चे आर्य-पिता की पुत्री गुलामी, कमजोरी और कमीनेपन के लालचों से सदा मुक्त है। वह देवी तो यहाँ संसार-रूपी सिंह पर सवारी करती है। वह अपने प्रेम-सागर की

लहरों में सदा लहराती है। कभी सूर्य की तरह तेजस्विनी और कभी चंद्रमा की तरह शांतिप्रदायिनी होकर वह अपने पति की प्यारी है। वह उसके दिल की महारानी है। पति के तन, मन, धन और प्राण की मालिक है। सच्चे आर्य-गृहों में इस कन्या का राज है। हे राम ! यह राज सदा अटल रहे !

इसमें कुछ संदेह नहीं कि कन्या-दान आत्मिक भाव से तो वही अर्थ रखता है जिस अर्थ में सावित्री, सीता, दमयंती और शकुंतला ने अपने आप को दान किया था: और इन नमूनों में कन्यादान का आदर्श पूर्ण रीति से प्रत्यक्ष है। प्रश्न यह है कि यह आदर्श सब लोगों के लिये किस तरह कल्याणकारी हो ?

लेखक का खयाल है कि आर्य-ऋषियों की बनाई हुई विवाह-पद्धति इस प्रश्न का एक सुंदर उत्तर है। एक तरीका तो आन्तरिक अनुभव से इस आदर्श को प्राप्त करना है। वह तो, जैसा ऊपर लिख आए हैं, किसी किसी के भाग्य में होता है। परंतु पवित्रात्माओं के आदेश से हर एक मनुष्य के हृदय पर आध्यात्मिक असर होता है। यह असर हमारे ऋषियों ने बड़े ही उत्तम प्रकार से हर एक नर-नारी के हृदय पर उत्पन्न किया है। प्रेमभाव उत्पन्न करने ही के लिये उन्होंने यह विवाह-पद्धति निकाली है। इससे प्रिया और प्रियतम का चित्त स्वतः ही परस्पर के प्रेम में स्वाहा हो जाता है। विवाहकाल में यथोचित रीतियों से न सिर्फ हवन की अग्नि ही जलाई जाती है किंतु प्रेम की अग्नि की ज्वाला भी प्रज्वलित की जाती है जिसमें पहली

आहुति हृदय-कमल के अर्पण के रूप में दी जाती है। सच्चा कुलपुरोहित तो वह है जो कन्या-दान के मंत्र पढ़ने से पहले ही यह अनुभव कर लेता है कि आध्यात्मिक तौर से पति और पत्नी ने अपने आपको परस्पर दान कर दिया।

आर्य-आदर्श के भग्नावशिष्ट अंश

भारतवर्ष में वैवाहिक आदर्श को इन जाति-पाँति के बखेड़ों ने अब तक कुछ टूटी फूटी दशा में बचा रखा है। कभी कभी इन बूढ़े, हठी और छू छू करनेवाले लोगों को लेखक दिल से आशीर्वाद दिया करता है कि इतने कष्ट झेलकर भी इन लोगों ने कुछ न कुछ तो पुराने आदर्शों के नमूने बचा रखे हैं। पत्थरों की तरह ही सही, खँडहरों के टुकड़ों की तरह ही सही, पर ये अमूल्य चिह्न इन लोगों ने रुई में बाँध बाँधकर, अपनी कुबड़ी कमर पर उठा, कुलियों की तरह इतना फासला तै करके यहाँ तक पहुँचा तो दिया। जहाँ इनके काम मूढ़ता से भरे हुए ज्ञात होते हैं, वहाँ इनकी मूर्खता की अमोलता भी साथ ही साथ भाषित हो जाती है। जहाँ ये कुछ कुटिलतापूर्ण दिखाई देते हैं वहाँ इनकी कुटिलता का प्राकृतिक गुण भी नजर आ जाता है। कई एक चीजें, जो भारतवर्ष के रस्मोरवाज के खँडहरों में पड़ी हुई हैं, अत्यंत गभीर विचार के साथ देखने योग्य हैं। इस अजायबघर में से नए नए जीते जागते आदर्श सही सलामत निकल सकते हैं। मुझे ये खँडहर खूब भाते हैं। जब कभी

अवकाश मिलता है मैं वहीं जाकर सोता हूँ। इन पत्थरों पर खुदी हुई मूर्तियों के दर्शन की अभिलाषा मुझे वहाँ ले जाती है। मुझे उन परम पराक्रमी प्राचीन ऋषियों की आवाजें इन खँडहरों में से सुनाई देती हैं। ये सँदेसा पहुँचानेवाले दूर से आए हैं। प्रमुदित होकर कभी मैं इन पत्थरों को इधर टटोलता हूँ, कभी उधर रोलता हूँ। कभी हनुमान् की तरह इनको फाड़ फाड़ कर इनमें अपने राम ही को देखता हूँ। मुझे उन आवाजों के कारण सब कोई मीठे लगते हैं। मेरे तो यही शालग्राम हैं। मैं इनको स्नान कराता हूँ, इन पर फूल चढ़ाता हूँ और घंटी बजाकर भोग लगाता हूँ। इनसे आशीर्वाद लेकर अपना हल चलाने जाता हूँ। इन पत्थरों में कई एक गुप्त भेद भी हैं। कभी कभी इनके प्राण हिलते प्रतीत होते हैं और कभी सुनसान समय में अपनी भाषा में ये बोल भी उठते हैं।

भारत में कन्या-दान की रीति

भाई की प्यारी, माता की राजदुलारी, पिता की गुणवती पुत्री, सखियों की अलबेली सखी के विवाह का समय समीप आया। विवाह के सुहाग के लिये बाजे बज रहे हैं। सगुन मनाए जा रहे हैं। शहर और पास-पड़ोस की कन्याएँ मिलकर, सुरीले और मीठे सुरों में रात के शब्दहीन समय को रमणीय बना रही हैं। सबके चेहरे फूल की तरह खिल रहे हैं। परंतु ज्यों ज्यों विवाह के दिन नजदीक आते जाते हैं त्यों त्यों विवाह होने-

वाली कन्या अपनी जान को हार रही है, स्वप्नों में डूब रही है। उसके मन की अवस्था अद्भुत है। न तो वह दुखी ही है और न रजोगुणी खुशी से ही भरी है। इस कन्या की अजीब अवस्था इस समय उसे अपने शरीर से उठाकर ले गई है और मालूम नहीं कहाँ छोड़ आई है। इतना जरूर निश्चित है कि उसके जीवन का केन्द्र बदल गया है। मन और बुद्धि से परे वह किसी देव-लोक में रहती है। विवाह-लग्न आ गई। स्त्रियाँ पास खड़ी गा रही हैं। अजीब सुहाना समय है। यथासमय पुरोहित कन्या के हाथ में कंकण बाँध देता है। इस वक्त कन्या का दर्शन करके दिल ऐसी चुटकियाँ भरता है कि हर मनुष्य प्रेम के अश्रुओं से अपनी आँखें भर लेता है। जान पड़ता है कि यह कन्या उस समय निःसंकल्प अवस्था को प्राप्त होकर अपने शरीर को अपने पिता और भाइयों के हाथ में आध्यात्मिक तौर से सौंप देती है। उसकी पवित्रता और उसके शरीर की वेदनावर्द्धक अनाथावस्था माता-पिता और भाई-बहन को चुपके चुपके प्रेमाश्रुओं से स्नान कराती है। कन्या न तो रोती है और न हँसती है, और न उसे अपने शरीर की सुध ही है। इस कन्या की यह अनाथावस्था उस श्रेणी की है जिस श्रेणी को प्राप्त हुए छोटे छोटे बालक नेपोलियन ऐसे दिग्विजयी नरनाथों के कंधों पर सवार होते हैं या ब्रह्म-लीन महात्मा बालकरूप होकर दिल की बस्ती में राज करते हैं। धन्य है, ऐ तू आर्यकन्ये! जिसने अपने क्षुद्र-जीवन को

बिलकुल ही कुछ न समझा। शरीर को तूने ब्रह्मार्पण अथवा अपने पिता या भाई के अर्पण कर दिया। इसका शरीर-त्याग लेखक को ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे कोई महात्मा वेदान्त की सप्तमी भूमिका में जाकर अपना देहाध्यास त्याग कर देता है। मैं सच कहता हूँ कि इस कन्या की अवस्था संकल्प ही होती है। चलती-फिरती भी वह कम है। उसके शरीर की गति ऐसी मालूम होती है कि वह अब गिरी, अब गिरी। हाँ, इसे सँभालनेवाले कोई और होते हैं। दो एक चंद्रमुखी सहेलियाँ इसके शरीर की रखवाली करती हैं। सारे संबंधी इसकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। पतिव्रता आर्य-कन्या और पतिव्रता योरप की कन्या में आजकल भी बहुत बड़ा फर्क है। विचारशील पुरुष कह सकते हैं कि आर्यकन्या के दिल में विवाह के शारीरिक सुखों का उन दिनों लेशमात्र भी ध्यान नहीं आता है। सुशीला आर्यकन्या दिव्य नभो-मंडल में घूमती है। विवाह से एक दो दिन पहले हाथों और पाँवों में मेहँदी लगाने का समय आता है। पंजाब में मेहँदी लगाते हैं; कहीं कहीं महावर लगाने का रिवाज है। कन्या के कमरे में दो एक छोटे छोटे बिनौले के दीपक जल रहे हैं। एक जल का घड़ा रखा है। कुशासन पर अपनी सहेलियों सहित कन्या बैठी है। संबंधी जन चमचमाते हुए थालों में मेहँदी लिए आ रहे हैं। कुछ देर में प्यारे भाई की बारी आई कि वह अपनी भगिनी के हाथों में मेहँदी लगाए। जिस तरह समाधिस्थ योगी के हाथों पर कोई चाहे जो कुछ करे उसे खबर नहीं होती,

उसी तरह इस भोली-भाली कन्या के दो छोटे छोटे हाथ इसके भाई के हाथ पर हैं; पर उसे कुछ खबर नहीं। वह नीर-भरा वीर अपनी बहन के हाथों में मेहँदी लगा रहा है। उसे इस तरह मेहँदी लगाते समय कन्या के उस अलौकिक त्याग को देखकर मेरी आँखों में जल भर आया और मैंने रो दिया। ऐ मेरी बहन! जिस त्याग को ढूँढ़ते ढूँढ़ते सैकड़ों पुरुषों ने जानें हार दीं और त्याग न कर सके; जिसकी तलाश में बड़े बड़े बलवान् निकले और हारकर बैठ गए; क्या आज तूने उस अद्भुत त्यागादर्श रूपी वस्तु को सचमुच ही पा लिया; शरीर को छोड़ बैठी; और हमसे जुदा होकर देवलोक में रहने लग गई। आ, मैं तेरे हाथों पर मेहँदी का रंग देता हूँ। तूने अपने प्राणों की आहुति दे दी है; मैं उस आहुति से प्रज्वलित हवन की अग्नि के रंग का चिह्न-मात्र तेरे हाथों और पाँवों पर प्रकाशित करता हूँ। तेरे वैराग्य और त्याग के यज्ञ को इस मेहँदी के रंग में आज मैं संसार के सामने लाता हूँ। मैं देखूँगा कि इस तेरे मेहँदी के रंग के सामने कितना भी गहरा गेरू का रंग मात होता है या नहीं। तू तो अपने आपको छोड़ बैठी। यह मेहँदी का रंग अब हम लगाकर तेरे त्याग को प्रकट करते हैं। तेरे प्राण-हीन हाथ मेरे हाथों पर पड़े क्या कह रहे हैं। तू तो चली गई, पर तेरे हाथ कह रहे हैं कि मेरी बहन ने अपने आपको अपने प्यारे और लाड़ले वीर के हाथ में दे दिया। वीर रोता है। तेरे त्याग के माहात्म्य ने सबको रुला-रुलाकर घरवालों को एक नया जीवन

दिया है। सारे घर में पवित्रता छा गई है। शान्ति, आनन्द और मंगल हो रहा है। एक कंगाल गृहस्थ का घर इस समय भरा पूरा मालूम होता है। भूखों को अन्न मिलता है। संबंधी मेहमानों को भोजन देने का सामर्थ्य इस घर में भी तेरे त्याग के बल से आ गया है। सचमुच कामधेनु आकाश से उतरकर ऐसे घर में निवास करती है। पिता अपनी पुत्री को देखकर चुपके-चुपके रोता है। पुत्री के महात्याग का असर हर एक के दिल पर ऐसा छा जाता है कि आजकल भी हमारे टूटे फूटे गृहस्थाश्रम के खंडहर में कन्या के विवाह के दिन दर्दनाक होते हैं। नयनों की गंगा घर में बहती है। माता-पिता और भाई को दैवी आदेश होता है कि अब कन्यादान का दिन समीप है। अपने दिल को इस गंगा-जल से शुद्ध कर लो। यज्ञ होनेवाला है। ऐसा न हो कि तुम्हारे मन के संकल्प साधारण क्षुद्र जीवन के संकल्पों से मिलकर मलिन हो जायँ। ऐसा ही होता है। पुत्री-वियोग का दुःख, विवाह का मंगलाचार और नयनों की गंगा का स्नान इनके मन को एकाग्र कर देता है। माता, पिता, भाई, बहन और सखियाँ भी पतिंवरा कन्या के पीछे आत्मिक और ईश्वरी नभ में बिना डोर पतंगों की तरह उड़ने लगते हैं। आर्य-कन्या का विवाह हिंदू-जीवन में एक अद्भुत आध्यात्मिक प्रभाव पैदा करनेवाला समय होता है, जिसे गहरी आँख से देखकर हमें सिर झुकाना चाहिए।

विवाह के बाहरी शोरोगुल में शामिल होना हमारा काम हीं। इन पवित्रात्माओं की उच्च अवस्था का अनुभव करके नको अपने आदर्श-पालन में सहायता देना है! धन्य हैं वे बंधी जो उन दिनों अपने शरीरों को ब्रह्मार्पण कर देते हैं। न्य हैं वे मित्र जो रजोगुणी हँसी को त्यागकर उस काल की हत्ता का अनुभव करके, अपने दिल को नहला धुलाकर, उस क आर्य-पुत्री की पवित्रता के चिंतन में खो देते हैं। सब मल-जुलकर आओ, 'कन्यादान का समय अब समीप है। केवल वही संबंधी और वही सखियाँ जो इस आर्य-पुत्री में तन्मय हो रही हैं उस वेदी के अन्दर आ सकती हैं। जिन्होंने कन्यादान के आदर्श के माहात्म्य को जाना है वही यहाँ उपस्थित हो सकते हैं। ऐसे ही पवित्र भावों से भरे हुए महात्मा विवाहमंडप में जमा हैं। अग्नि प्रज्वलित है। हवन की सामग्री से सत्त्वगुणी सुगंध निकल-निकलकर सबको शांत और एकाग्र कर रही है। तारागण चमक रहे हैं। ध्रुव और सप्तर्षि पास ही आ खड़े हुए हैं। चंद्रमा उपस्थित हुआ है। देवी और देवता इस देवलोक में विहार करनेवाली आर्य-पुत्री का विवाह देखने और उसे सौभाग्यशीला होने का आशीर्वाद देने आए हैं। समय पवित्र है। हृदय पवित्र है। वायु पवित्र है और देवी देवताओं की उपस्थिति ने सबको एकाग्र कर दिया है। अब कन्यादान का वक्त है। स्त्रियों ने कन्यादान के माहात्म्य के गीत अलापने शुरू किए हैं। सबके

"बिछुड़ती दुलहन वतन से है जब
खड़े हैं रोम और गला रुके हैं;
कि फिर न आने की है कोई ढब
खड़े हैं रोम और गला रुके हैं;
यह दीनो-दुनिया तुम्हें मुबारक
हमारा दूल्हा हमें सलामत;
पै याद रखना यह आखिरी छबि
खड़े हैं रोम और गला रुके हैं।"
(स्वामी राम)

अब प्यारा वीर देव-लोक में रमती देवी के समान अपनी समाधिस्थ बहन के शरीर को अपने हाथों में उठाए इस देवी के भाग्यवान् पति के साथ प्रज्वलित अग्नि के इर्द-गिर्द फेरे देता है। इस सोहने नौजवान का दिल भी अजीब भावों से भर गया है। शरीर उसका भी उसके मन से गिर रहा है। उसे एक पवित्रात्मा कन्या का दिल, जान, प्राण सबका सब अभी दान मिलता है। समय की अजीब पवित्रता, माता-पिता, भाई, बहन और सखियों के दिलों की आशाएँ, सत्त्वगुणी संकल्पों का समूह, आए हुए देवी-देवताओं के आशीर्वाद, अग्नि और मेहँदी के रंग की लाली, कन्या की निरवलम्बता, अनाथता, त्याग, वैराग्य और दिव्य अवस्था आदि ये सबके सब इस नौजवान के दिल पर ऐसा आध्यात्मिक असर करते हैं कि सदा के लिये अपने आपको वह इस देवी के चरणों में अर्पण कर

देता है। हमारे देश के इस पारस्परिक अर्पण का दिव्य समय कुल दुनिया के ऐसे समय से अधिक हृदयंगम होता है। कन्या की समाधि अभी नहीं खुली। परंतु ऐसी योग-निद्रा में सोई हुई पत्नी के ऊपर यह आर्य नौजवान न्यौछावर हो चुका। इसके लिए तो पहली बार ही प्रेम की बिजली इस तरह गिरी कि उसको खबर तक भी न हुई कि उसका दिल उसके पहलू में प्रेमाग्नि से कब तड़पा, कब उछला, कब कूदा और कब हवन हो गया। अब भाई अपनी बहन को अपने दिल से उसके पति के हवाले कर चुका। पिता और माता ने अपने नयनों से गंगा-जल लेकर अपने अंगों को धोया और अपनी मेहँदी रँगी पुत्री को उसके पति के हवाले कर दिया। ज्योंही उस कन्या का हाथ अपने पति के हाथ पर पड़ा त्योंही उस देवी की समाधि खुली। देवी और देवताओं ने भी पति और पत्नी के सिर पर हाथ रखकर अटल सुहाग का आशीर्वाद दिया। देवलोक में खुशी हुई। मातृलोक का यज्ञ पूरा हुआ। चंद्रमा और तारागण, ध्रुव और सप्तर्षि इसके गवाह हुए। मानो ब्रह्मा ने स्वयं आकर इस संयोग को जोड़ा। फिर क्यों न पति और पत्नी परस्पर प्रेम में लीन हों? कुल जगत् टूट फूटकर प्रलय-लीन सा हो गया; इस पत्नी के लिये केवल पति ही रह गया। क्या रँगीला जोड़ा है जो कुल जगत् को प्रलय-गर्भ में लीन कर अनंताकाश में प्रेम की बाँसुरी बजाते हुए विचर रहा है। प्यारे! हमारे यहाँ तो यही राधा-कृष्ण घर घर विचरते हैं।

सीता ने बारह वर्ष का वनवास कबूल किया; महलों में रहना न कबूल किया। दमयंती जंगल जंगल नल के लिये रोती फिरी। सावित्री ने प्रेम के बल से यम को जीतकर अपने पति को वापस लिया। गांधारी ने सारी उम्र अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर बिता दी।

ब्राह्म-समाज के महात्मा भाई प्रतापचंद्र मजूमदार अपने अमरीका के "लौवल लेकचर" में कन्यादान के असर को, जो उनके दिल पर हुआ था, अमरीका-निवासियों के सम्मुख इस तरह प्रकट करते हैं :—'यदि कुल संसार की स्त्रियाँ एक तरफ खड़ी हों और मेरी अपढ़ प्रियतमा पत्नी दूसरी तरफ खड़ी हो तो मैं अपनी पत्नी ही की तरफ दौड़ जाऊँगा।"

ऋषि लोग संदेसा भेजते हैं कि इस आदर्श का पूर्ण अनुभव से पालन करने में कुल जगत् का कल्याण होगा। हे भारत-वासियो! इस यज्ञ के माहात्म्य का आध्यात्मिक पवित्रता से अनुभव करो। इस यज्ञ में देवी और देवताओं को निमंत्रित करने की शक्ति प्राप्त करो। विवाह को मखौल न जानो। यज्ञ का खेल न करो। झूठी खुदगर्जी की खातिर इस आदर्श को मटियामेट न करो। कुल जगत् के कल्याण को सोचो।

(७) सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आजाद होते हैं। उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकिजी ने कुंभकर्ण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्वगुण के क्षीर-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजें बंद हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मद-मत्त करती है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राण-सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो, हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-

संपन्न स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे संसार में अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानों हजारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की सी भड़क उठी। उसी वीर की आँखों की ज्वाला इंद्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कंदरा में सोनेवाले ने एक आवाज दी। सारी पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैगंबर मुहम्मद ने "अल्लाहो अकबर" का गीत गाया तब कुल संसार चुप हो गया। और, कुछ देर बाद, प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी "अल्लाह" गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर-उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ "अल्लाह, अल्लाह" का अलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आए वे उसके दास बन गए। चंद्र और सूर्य्य ने बारी बारी से उठकर सलाम किया। उस वीर का बल देखिए कि सदियों के बाद भी संसार के लोगों का बहुत सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे से जीवन को अति तुच्छ समझकर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुष के, केवल सुने-सुनाए, नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अंतःकरण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राज-तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क बर्क सिंहासन पर बैठने वाले दुनिया के राजाओं को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये जरी, मखमल और जेवरों से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम कांपते रहते हैं। इंद्र के समान ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे "जार्ज" बड़े कायर होते हैं। क्यों न हो, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ, जब कभी किसी अक-बर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानों एक सच्चा वीर पैदा होता है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—"मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो?" गुलाम बोला—"हाँ, मैं फांसी पर तो चढ़ जाऊँगा; पर तुम्हारा

तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी। बस इतने ही जोर और इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दुःख देते और मार-पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। भोले लोग उनसे डरते रहते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केंद्र समझते हैं; इसलिये जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया वहीं वे मारे डर के अधमरे हो जाते हैं; केवल शरीर-रक्षा के निमित्त ये लोग इन राजाओं की ऊपरी मन से पुजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को जरा सी रस्सी से लटकाकर मार देने भर ही का है, भला उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पँखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिये बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करनेवाली फौज, तोप, बंदूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह-जमाना होते हैं। मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा—"मैं खुदा हूँ।" दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है।" मगर मंसूर ने अपने कलाम को बंद न किया। पत्थर मार मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की; परन्तु उस मर्द के हर बोल से ये ही शब्द निकले—'अनलहक'"—'अहं ब्रह्मास्मि'' "मैं ही ब्रह्म हूँ"। सूली पर चढ़ना मंसूर के लिये सिर्फ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्स तबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाजे पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, वह खाल खाने के लिये दे दी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा—"भीख माँगनेवाला तेरे दर्वाजे पर आया है; ऐ शाहेदिल! कुछ इसको दे दे।" खाल उतारकर फेंक दी! वाह रे सत्पुरुष!

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़ सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता है?" उसने कहा—"हे भगवन् आजकल के राजा बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बड़े दानी हैं। इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आप कृपा करके मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेंट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज में आकर कहा "अच्छा कल, यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दर्बार में आए। वे लोग रोजगार की तालाश में थे। अकबर ने कहा—"अपनी अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला वे क्या सुबूत देते? परंतु दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़

गए और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गए।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिसमें मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इंतिजार नहीं करते; छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पसलियाँ तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निकल जाते हैं, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की और कोई ताकत उसके सामने फटक नहीं सकती। सब चीजें थम जाती हैं। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। योरप में जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुकाबला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से योरप के बादशाह तख्त से उतार दिये जा सकते थे। पोप का सिक्का योरप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य

से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-संन्यासी और योरप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबंदी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ में होती है उसी तरह पोप ने योरप-वासियों की जान अपने हाथ में कर ली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जरमनी के एक छोटे से मंदिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि योरप में स्वर्ग और नरक के टिकट बड़े बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पाप मय हैं और बंद होने चाहिएँ। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम गुस्ताखी के इस बदले आग में जिंदा जला दिए जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—"अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं किंतु शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का संदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान की दलदल पर खड़े हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्ठे मैंने आग में फेंके। जो मुझे

करना था मैंने कर दिया; जो अब तुम्हारी इच्छा हो, करो। मैं सत्य की चट्टान पर खड़ा हूँ।" इस छोटे से संन्यासी ने वह तूफान योरप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। तूफान में एक तिनके की तरह वह न मालूम कहाँ उड़ गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फौज से कहा—"अटक के पार जाओ।" अटक चढ़ी हुई थी और भयंकर लहरें उठी हुई थीं। जब फौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गए।

दुनिया में जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने-मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलधार बरस रही है। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज निःस्तब्ध होकर रुकने की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्योंही असंभव समझा त्योंही वीर ने कहा—"आल्प्स है ही नहीं" फौज को निश्चय हो गया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार हो गए!

एक भेड़ चरानेवाली और सतोगुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात हैं। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्य्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है--सत्य को अपने अंदर कूट कूट कर भरना है और अंदर ही अंदर बढ़ना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिए।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने-मरने में, खून बहाने में, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने में होता है; कभी प्रेम के मैदान में उसका झंडा खड़ा होता है। कभी जीवन के गूढ़ तत्त्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परंतु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नया-पन भी वीरता का एक खास रंग है। हिंदुओं के पुराणों को

वह आलंकारिक कल्पना, जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब अजीब और भिन्न भिन्न वेष दिए हैं, सच्ची मालूम होती है; क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता। वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गए—कुछ बन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते हैं। इस मूर्ति का दर्शन वे चेरी के फूल की शांत हँसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोर से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुंदरता के रूप में वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने योरप को 'क्रूसेड्ज' के लिये हिला दिया वह उन सबसे बड़ा वीर था जो लड़ाई में लड़े थे। इस पुरुष में वीरता ने आँसुओं और आहों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा सा मामूली आदमी योरप में जाकर रोता है कि हाय हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नहीं और यहूद के राजा योरप

के यात्रियों को दिक करते हैं। इस आसू-भरी अपील को सुनकर सारा योरप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयों से बढ़कर समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दर्जे का सच्चा पक्षी है जो बीमारों के सिरहाने खड़ा होकर दिन-रात गरीबों की निष्काम सेवा करता है और गंदे जख्मों को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ करता है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्कों के काले हर्फों में न आए, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके ख्याल सबके ख्याल हो जाते हैं। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सबका बल हो जाता है! वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद-ब-खुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए, बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े

हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी कभी बाहर नजर आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है। कन्दराओं में, गोरों में, छोटी छोटी झोपड़ियों में बड़े बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं। पुस्तकों और अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं। उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिये नहीं जीते।

हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोंककर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना पहले दरजे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिये काफी है। मानों इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटनेवाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिये बच जाय। बादल गरज गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परंतु बरसनेवाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं—"उठाओ तलवार।" वीर कहते हैं—"सिर आगे करो।" वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फजूल खो देने के लिये नहीं बनाया है। वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का भंडार है। कुदरत का यह मरकज़ हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाय तो हिल जाय परंतु वीर के दिल में जो दैवी केंद्र है वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढ़ने की हो, अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरों की पालिसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही 'मार्च' करते हैं; क्योंकि हृदयाकाश के केंद्र में खड़े होकर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाड़ला, खूबसूरत जवान, अपने मद में मतवाला और अपने आपको शाहंशाह हकीकी कहनेवाला ईसा मसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठकर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है। कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोई क्षुद्रहृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता; अपनी ताकत को नष्ट कर देता; और संभव है कि एक निगाह से उस सल्तनत के तख्ते को उलट

देता और मुसीबत को टाल देता, परंतु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मखौल समझता था; "सूली मुझे है सेज पिया की, सोने दो मीठी मीठी नींद है आती।" अमर ईसा को भला दुनिया के विषय-विकार में डूबे लोग क्या जान सकते थे? अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी देकर उड़ गईं वैसे ही बादशाह और बादशाहतें आज खाक में मिल गई हैं। सचमुच ही वह छोटा सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियों और जानवरों की कचहरियों के फैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। रानाजी ने जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा। मगर वाह री सचाई! मीरा ने उस जहर को भी अमृत मानकर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने की गई, मगर वाह रे प्रेम! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। भीतर ध्यान करते हैं। मारते नहीं, मरते हैं।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठंढा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो और हजारों वर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंढी हो।

उसे खुद गरम और सर्द होने से क्या मतलब? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया में एक नई शक्ति और एक नई जबान पैदा हुई। कारलायल अँगरेज जरूर है; पर उसकी बोली सबसे निराली है। उसके शब्द मानों आग की चिनगारियाँ हैं जो आदमी के दिलों में आग सी लगा देती हैं। सब कुछ बदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष संसार में दुखड़े और दर्द रोए जायँ तो भी बुद्धि की शांति और दिल की ठंढक एक दर्जा भी इधर-उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते हैं। हजारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। बाबर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगार में पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रखा और कहा—"चलो।" आप चल पड़े। दौड़, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगों का दुःख, गाँव के गाँव का जलना सब किस्म की दुखदाई बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं। उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शांति!

अगर कोई छोटा सा बच्चा नेपोलियन के कंधे पर चढ़कर उसके सिर के बाल खींचे तो क्या नेपोलियन इसको अपनी बेइज्जती समझकर उस बालक को जमीन पर पटक देगा,

जिसमें लोग उसको बड़ा वीर कहें ? इसी तरह सच्चे वीर जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं, तब कुछ परवा नहीं करते। क्योंकि उनका जीवन आसपासवालों के जीवन से निहायत ही बढ़-चढ़कर ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातों पर वीर कब हिलते हैं। जब उनकी मौज आई तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान के एक छोटे से गाँव की एक झोपड़ी में छोटे कद का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। बड़े कड़े मिजाज का, स्थिर, धीर और अपने खयालात के समुद्र में डूबा रहने-वाला पुरुष था। आसपास रहनेवाले लोगों के लड़के इस साधु के पास आया-जाया करते थे और यह उनको मुफ्त पढ़ाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यवहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था। क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं किया था। उसकी सारी उम्र शांति और सत्त्वगुण में गुजर गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफा इत्तिफाक से दो-तीन फसलों के न होने से इस फकीर के आसपास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुखी हुए। लाचार होकर इस नंगे, कंगाल फकीर के पास मदद माँगने आए। उसके दिल में कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया।

पहले वह ओसाका नामक शहर के बड़े बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भलेमानसों ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए। परंतु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भर-कर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परन्तु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव रूप हो गया। यहाँ इतना जिक्र कर देना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके हृदय की यह एक वासना है। ऐसी कौम के हजारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ वा चरा न कर सका। बगावत का झंडा खड़ा हो गया। ओशियो एक बाँस पकड़कर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिये चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल को कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि ओशियो और उसकी बागी फौज पर बंदूकों की बाढ़ छोड़ी जाय? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के सब्ज वर्कों को पढ़नेवाला है। वह किसी खास

बात के लिये चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले में दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—वे राजभांडार, जो अनाज से भरे हुए हैं, गरीबों की मदद के लिये क्यों नहीं खोल दिए जाते ?

जापान के राजा को डर सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज में दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भांडार खोल दिए जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानों को बाँटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मंत्रियों के दफ्तर लगे के लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया। लोगों की विपत्ति कुछ दिनों के लिये दूर हो गई। ओशियो के हृदय की सफाई, सचाई और दृढ़ता के सामने भला कौन ठहर सकता था? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिह्न है। रूस के जार ने सब लोगों को फाँसी दे दी। किंतु टाल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था; उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्ग ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके

खड़ा हुआ वह विजयी हो गया। आजकल लोग कहते हैं कि काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक-दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई तहाँ हिंदुस्तान के सारे अखबारों ने "हीरो" और "महात्मा" की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। ये तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखनेवाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जान अखबारों के लेखों में है? जहाँ इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं।

प्यारे, अंदर के केंद्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे धीरे अपने अंदर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अंदर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परंतु वह चिरस्थायी नहीं होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर वीरता का मसाला तो होता नहीं। हम सिर्फ खाली महल उसके दिखलाने के लिये बनाना चाहते हैं। टीन के बरतन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केंद्र में निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिंदगी किसी और के हवाले करो ताकि जिंदगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिये बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अंदर की तहों में घुस जाओ; तब नए रंग खुलेंगे। द्वेष और भेददृष्टि छोड़ो, रोना छूट जायगा। प्रेम और आनंद से काम लो; शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायँगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो जाओ; धीर और गंभीर हो जाओगे। वीरों की, फकीरों की, पीरों की यह कूक है—हटो पीछे, अपने अंदर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

(८) आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने-वाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिये भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्या-चरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर

मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी न उत्तरी, न दक्षिणी, बे नाम, बे निशान, बे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदऋतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य्य; जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या

मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौनभाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है! वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न इंजील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश-वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बद-हजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्म-वाणी है, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा

सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्म्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी

स्वयं ईसा होता है—मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिये—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ—तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्य-हीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे नीचे

उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूमों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है; यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन-जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचा-

नक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः, नया रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है—और उस पर भली भाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में प्रेम का वह मौन व्याख्यान—आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता। कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता! यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह

हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिये नाना प्रकार के ऊंच नीच और भले बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए है? जिनको हम धर्म्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त हो रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकार-मय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ?

बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों के लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं ; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद है—और धर्मानुभव के लिये मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव—वे आचरण—जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें कहाँ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई भी धर्मसंप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिये कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिये सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिये जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिये वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया; उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए

हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिये अपनी नैया आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का भान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है। जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिये जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है; परंतु अपना जीवन

बचाने के लिये कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ; न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की संगति में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ, यदि, मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिये मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिये लँगोटी और सिर के लिये एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान् हैं; शरीर मेरा नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिये खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न धर्म संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपनी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने भिड़ने, मरने मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं, केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परन्तु वह धर्म्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मद मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से योरप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देशदेशांतरों को ढूँढते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती; जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इँगलैंड के

जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि योरोप के समुद्रों में जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और योरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है योरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये योरोपनिवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ योरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर योरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिये, जिससे वह प्रकाश वायु में और खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना—सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डाल-कर अमृत निकाला है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए भी वह मिल सकता है?

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्त्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते

तो उसमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिये राख और पृथ्वी बनाना कठिन है; क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, योरोप में, सभी असभ्य थे; परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ; योगसिद्धि द्वारा सूर्य्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली

तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ!

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिसकर बनता है; उसके फूल तो सूर्य्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारम्बार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते? पीछे मुड़ मुड़कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हर एक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों

की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठ कर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ़ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है; न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफ़िज शीराजी का सोना उलट कर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फ़ारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन

हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगम्बर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसको आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था। हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हर एक पदार्थ को परमाणुओं में परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है"। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं;

प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

(६) मजदूरी और प्रेम

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल फूल में, फल फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि

इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी भरी है, गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों को अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा

जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य्य और चंद्रमा छन छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हम-जोली, पक्षियों का महराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बाद-शाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके

सारे सुफेद हैं। और क्यों न सुफेद हों? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर कर में न घर कर बैठना इस दारे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते देखते गल गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया।

साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूं, परंतु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद मंद हंसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़-रिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी"। वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी

आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्म्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बंध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई

कमीज मेरे लिये मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे

हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्‌गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है।

उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रात:कालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिये रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता। सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो

यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कलाकौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेमशरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल मे अस

की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायु-यान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिये वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नये कवि पैदा होंगे; तभी नए औलियों का उद्भव होगा। परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्त्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिये परमावश्यक हैं। बिना

मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरो ताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु, सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं

कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस साल वाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने-वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के

माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है ? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिये जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परंतु उसका यह घूमना सूर्य्य के इर्द गिर्द घूमना तो है और सूर्य्य के इर्द गिर्द घूमना सूर्य्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है; स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक

बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर दूर से साधु आए हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक

हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the world with

the tips of our fingers") जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्म-दात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य-जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल, अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है।

मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है; परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोम-नाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँवालों के हाथ की अद्वितीय कारी-गरी प्रकट करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टालसटाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गंभीर विचार-वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न? इंजनों के पहिये के नीचे दबकर वहाँवालों के भाई बहन—नहीं नहीं, उनकी सारी जाति पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गए, उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परंतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिये—मजदूरों को सुख देने के लिये—परंतु वे काली काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिये मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिमवालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हमी, मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रमवालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम में आनेवाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति

के आनंद-मंगल का एक साधारण सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालों को मारकर अपने सुख के लिये शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़ी से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का ? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक एक प्याला घर घर में, कुटिया कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशकों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

——

(१०) पवित्रता

ब्रह्मकांति

अनेक सूर्य आकाश के महामंडल में घूम रहे हैं, अनंत ज्योति इधर उधर और हर जगह बिखेर रहे हैं। सफेद सूर्य, पीले सूर्य, नीले सूर्य और लाल सूर्य, किसी के प्रेम में अपने अपने घरों में दीपमाला कर रहे हैं। समस्त संसार का रोम रोम अग्नियों की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। परमाणु ब्रह्मकांति से मनोहर रूपों में सजे हुए, ज्योति से लदे हुए, जगमग कर रहे हैं। परमाणु सूर्य-रूप हो रहे हैं और सूर्य परमाणु-रूप हैं। सुंदरता सारी लज्जा को त्याग, घर-बार छोड़, अनत पर्दों को फाड़ खुले मुँह दर्शन दे रही है। बालकों, नारियों और पुरुषों के मुखों की लाली और सफेदी झड़ रही है। गुलाब, सेब और अंगूर के नरम नरम और लाल लाल कपोलों से फूट फूटकर निकल रही है। प्रातःकाल के रूप में सिर पर नरम नरम और सफेद सफेद रुई का टोकरा उठाए हुए किस अंदाज से वह आ रही है। सायंकाल होते अपने दुपट्टे के सुर्ख फूलों से फिर कुल संसार से होली खेलती हुई वह जा रही है। झरनों, चश्मों और नदी-नालों में नाच रही है। हिमालय की बर्फों में लोट रही है। सजे धजे जंगल और रूखे

सूखे बियाबानों की सनसनाहट में लोट रही है। युवती कन्या के रूप में जवानी की सुगंध फैलाती हुई वही चल रही है। नरगिस (एक फूल) की आँख मे किस भेद से छिपी हुई है कि प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। बालक की बोलचाल में, चेहरे में, क्या झाँक झाँक कर सबको देख रही है। खुला दरबार है। ज्योति का आनंद-नृत्य सब दिशाओं में हो रहा है। मीठी वायु दर्शनानंद से चूर हो मारे खुशी के लोटती-पोटती, लड़खड़ाती, नाचती चली जा रही है। इस ब्रह्मकांति के जोश में बादल गरज रहे हैं। बिजली चमक रही है। अहाहा! सारा संसार कृतार्थ हुआ। जाग उठा। हाथी चिंघाड़ रहे हैं, दौड़ रहे हैं। शेर गरज रहे हैं, कूद रहे हैं। मृग फलाँग मार रहे हैं। कोयल और पपीहे, बटेर, बए (बया), कुमरी और चंडूल नंगे हो नहा रहे हैं। दर्शन दीदार का पा रहे हैं। तीतर गा रहे हैं। मुर्ग अपनी छाती में आनंद को पूरा भरकर कूक रहे हैं। ई, ई, ऊ, ऊ, कू, कू, हू, हू में वेदध्वनि, ओ३म् का आलाप हो रहा है। पर्वत भी मारे आनंद के हवा में उछल उछल नीले आकाश को फाँद रहे हैं। बदरीनाथ, केदारनाथ, जमनोत्तरी, गंगोत्तरी, कंचनजंगा की चोटियाँ हँस रही हैं। वृक्ष उठ खड़े हुए हैं, इन सब की संध्या हो चुकी है।

था जिनकी खातिर नाच किया जब मूरत उनकी आएगी।
कहीं आप गया कहीं नाच गया और तान कहीं लहराएगी ॥

अर्थात् सबकी नमाज कजा हो गई। प्यारा नजर आया। सबकी ईद है। ब्रह्मर्षि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" पुकार उठा, चीख उठा, योगनिद्रा खुल गई। ब्रह्मकांति के आकर्षण ने दसवाँ द्वार फोड़कर प्राणों को अपनी ही गति फिर दे दी। मारे परमानंद के हृदय बह गया। यहाँ गिर गया, वहाँ गिर गया। अत्यंत ज्योति के चमत्कार से साधारण आँखें फूट गईं। प्रेम के तूफान ने सिर उड़ा दिया। हवनकुंड से स्याह, नीले रंग का ब्रह्म, कमलों से जड़ा हुआ ब्रह्म, मोतियों से सजा हुआ किसी ने कन्धों पर रख दिया, ब्रह्मयज्ञ हो चुका। मनुष्य-जन्म सफल हुआ। जय! जय!! जय!!! भक्त की जिह्वा बंद हो गई। बाहु पसार जा मिला। कुछ न बोल सका। कुछ न बोला, ब्रह्म-कांति में लीन हो गया। उसके सितार के तार टूट गए। नारद की वीणा चुप हो गई। कृष्ण की बाँसुरी थम गई। ध्रुव का शंख गिर पड़ा शिव का डमरू बंद हो गया! महात्मा पंडितजी जा रहे हैं। पुस्तकों से लदा छकड़ा साथ जा रहा है। परतु पडितजी इन अमूल्य पुस्तकों को, छकड़े समेत, अपने सिर पर उठाए हुए हैं। वह क्या हुआ? क्या नजर आया? अमूल्य पुस्तकें—वेद, दर्शन इत्यादि–पंडितजी के सिर से गिर पड़ीं? छकड़ा लड़खड़ाता गंगा में बह गया। सब कुछ जल में प्रवाह कर दिया। पंडितजी का साधारण शरीर वायु में मानों घुल गया। नाचने लग गए। चाँद के साथ, सूर्य के साथ, हाथ पकड़े। नृत्य करते हुए वायु समान समुद्र की लहरों में ब्रह्मकांति के साथ जा मिले।

हल चलाता चलाता किसान रह गया। बकरी भैंस चराता चराता—वह और कोई भी उसी तरह लीन हुआ। जूते गाँठता गाँठता एक और कोई दे मरा। भोग-विलास की चीजें पास पड़ी हैं। ऊँचे महलों से निकल, सुनहरे पलँगों से गिर वह रेत में कौन लोट गया! सिर से ताज उतार नंगे सिर नंगे पाँव यह अलख कौन जगाता फिरता है? मोर-मुकुट उतार सिर पर काँटे धरे शूली की नंगी धार पर वह मीठी नींद कौन सा राम का लाड़ला सोता है? तारों की तरह कभी मैं टूटा और कभी तू टूटा! कभी इसकी बारी और कभी उसकी बारी आई। मीराबाई ब्रह्मकांति का अमूल्य चिह्न हो गई। गार्गी ने ब्रह्मकांति की लाट को अपनी आँख में धारण किया। वेद ने ब्रह्मकांति के दर्शनरूप को अपनी आँख में ले लिया।

हाय! ब्रह्मकांति के अनंत प्रकाश में भी मेरे लिये अँधेरा हुआ! अत्यंत अत्याचार है—गंगाजल तो हो शीतल, परंतु मेरा मन अपवित्रता के भावों से भरा हुआ मार्गशीर्ष और पौष की ठंढी रातों में भी अपने काले काले संकल्प के नागों से डसा हुआ जल रहा हो, तड़प रहा हो! अपवित्रता का पर्दा जब आँख पर आ जाय तो भला किस तरह देखे कोई? हिमालय की बर्फ हो शुद्ध सफेद और मेरा मन काला! हरी हरी घास भी हो नरम और मेरा दिल हो कठोर! पत्थर, रेत, कुश, जल ये भी हों पवित्र, पर इन जैसी भी न हो मेरी स्थिति! फूल भी हो सुगंधित, मिट्टी भी हो सुगंधित, पर मेरे नेत्र और

वाणी और अन्य अंग हों दुर्गंधित ? पत्थरों के पहाड़, घासों के जंगल, पानी के झरनों को देखकर तो महर्षि भी बोल उठे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" पर मुझे देख उनको भी कभी कभी शक हो जाय और प्रश्न उनके हृदय में भी उठे कि ब्रह्म को कैसे भूल गया ?

ऐसे कैसे निभेगी—हाय मुझमें यह अपवित्रता कहाँ से आ गई ! क्यों आ गई ? ब्रह्म को भी कलंकित कर रही है। ब्रह्मकांति की अटल शोभा को भी एक जरा से बादल ने ढाँप दिया। एक मोतियाबिंद के दाने ने गुप्त कर दिया। अपवित्रता को आँखों में रख कैसे हो सकता है वह विद्यादर्शन ? कैसे सफल हो मनुष्यजन्म ? राजदुलारे ! अहो क्या हुआ कि सारी की सारी सलतनत छूट गई, दर दर गली गली धक्के खाता हूँ; कोई लात मारता है, कोई ढेला, कभी यहाँ चोट लगती है, कभी वहाँ, कभी इस रोग ने मारा, कभी उस रोग ने मारा; सारा दिन और सारी रात रोग के पलँग पर भी पड़ा रहना क्या जीवन हुआ ! मरने से पहले ही हजार बार मौत के डर से मरते रहना भी क्या जीवन है ? सदा आशा तृष्णा के जाल में फड़क फड़क न जीना और न मरना, भला क्या सुख हुआ !

कौन सा कलियुग मेरे मन में भूत की तरह आ समाया है कि मुझे सब कुछ भुला दिया। खुश हो होकर जुआ खेलने लग गया। अपनी आत्मा को भी हार बैठा। अपनी आँखें आप

ही फोड़ अब रोते हो क्यों? अब तो तुम्हारी प्रार्थना सुनने-वाला कोई नहीं। इस अपवित्रता के अँधेरे को जैसे तैसे सफेद करना है। इस कलंक को धोना है। इस मोतियाबिंद को निकलवाना है। मैं भारतनिवासी कैसे हो सकता हूँ, जिसने अपने तीर्थों में भी, जिन तीर्थों की यात्रा से सुनते हैं अपवित्रता का कलंक दूर हो जाता था, काले संकल्पों के नाग हर किसी को डसने के लिये छोड़ रखे हैं और इसे लीला मानकर रोते समान हँस रहा हूं।

ये तिमिर के बादल कब उड़ेंगे? पवित्रता का सूर्य मेरे अंदर कब उदय होगा! मेरे कान में धीमी सी आवाज आई कि भारत उदय हुआ। हाय भारत का कब उदय हुआ! जब मेरे दिल में अभी अपवित्रता की रात है, जब अभी मैंने हिमालय, गंगा, विंध्याचल, सतपुड़ा और गोवर्द्धन को अपनी आँख के अँधेरे से ढाँप रक्खा है। भारत तो सदा ही ब्रह्मकांति में वास करता है, भारत तो ब्रह्मकांति का एक चमकता दमकता सूर्य है। जब ब्रह्मकांति के दर्शन न हुए तो भारत का कहाँ पता चलता है। भारत की महिमा पवित्रता के आदर्श में है। ब्रह्मचारी पवित्र, गृहस्थ पवित्र, वानप्रस्थ पवित्र, संन्यासी पवित्र; ब्रह्मकांति को देखना और दिखाना भारत का जीवन है। पवित्रता का देश, भारतनिवासियों का देश है, जहाँ ब्रह्मकांति का भान होता है खुले दर्शन दीदार होते हैं। भला हड्डा, मांस और चाम के शरीरों और हजारों मील लंबी चौड़ी मुर्दा की हुई

जमीन से भी कभी भारत बनता है! मखौल के चोचलों से क्या लाभ होता है! भारत तो केवल दिल की बस्ती है! ब्रह्मकांति का मानो केंद्र है! भारत-निवासियों का राज्य तो आध्यात्मिक जगत् पर है। अगर यह राज्य न हुआ तो मुर्दा भूमि के ऊपर राज्य किस काम का? जल न जायँ वह महल जहाँ ब्रह्मकांति से रोशनी न हो। गोली न लग जाय उन दिलों को, जहाँ प्रेम और पवित्रता के अटल दीपक नहीं जगमगाते। ऐसे बेरस बेसूद फलों के इंतजार से क्या लाभ, जो देखने में तो अच्छे और जब जतन से बाग लगाए, फल पकाए तो खाने को वे काँटे बन गए। चलो चलें अपने सच्चे देश को, इस विदेश में रहने, जूते खाने से क्या लाभ? अपने घर को मुख मोड़ो! बाहर क्या दौड़ रहे हो?

पवित्रता का स्वरूप

पवित्रता का चिंतन करते हुए ये मेरे मन के कमरे की दीवारों पर जो चित्र लटक जाते हैं उनका वर्णन करना ही लेखक के लिये तो पवित्रता का स्वरूप जतलाना है। लेखक इस कमरे में कई बार घंटों इन चित्रों के चरणों में बैठा है—इन चित्रों की पूजा की और इनसे पवित्रता के स्वरूप को जितना हुआ अनुभव किया। चित्रों का, जो लेखक ने अपने इस बुतखाने में रखे हैं, वर्णन तो इस लेख में हो नहीं सकता परंतु जितना हो सकता है उतना संक्षेप से अर्पण करता हूँ—

(१) ऊँचा पर्वत है, आसपास सुहाने देवदारु के जंगल नीचे तक खड़े हैं। मीलों लंबी बर्फ पड़ी है, इसके चरणों में नदियाँ किलोल कर रही हैं। इसके सिर पर एक-दो, कोई एक एक मील लंबे, पिघली बर्फ के कुंड भी हैं। ऊपर नीला आकाश झलक रहा है। पूर्णिमा का चाँद छिटक रहा है। ठंढक, शांति और सत्त्वगुण बरस रहा है। सुख आसन में बैठे ताड़ी लगा, खुली आँखों, मैं इस शोभा को देख रहा हूँ। आँखें खुली ही हुई जुड़ गई हैं। पलक गिराने तक की फ़ुर्सत नहीं, मुख खुला ही रह गया है। बंद करने का अवकाश नहीं मिला। प्राणों की गति का पता नहीं। इस अपने ही चित्र के समय घड़ियाँ व्यतीत हो जाती हैं। पाठक! बैठ जाओ, मेरी जगह अपने आपको बिठा लो और देखो जब तक आपका जी चाहे।

(२) गंगा का किनारा है, एक शिला पर भर्तृहरिजी बैठे हैं। पद्मासन लगाए हुए हैं। ब्रह्मचिंतन में लीन हैं। उनकी मुँदी हुई आँखों से एक-दो प्रेम के अश्रु निकलकर उनके तेज भरे कपोलों पर ढलककर जम गए हैं। मृग जंगल से दौड़ते आए और उनके शरीर को भी शिला जान अपने सींग खुजलाने लग गए। आकाश से एक प्यासी चिड़िया उड़ती आई है और इस लाल शिला पर गंगाजल की बूँदों को देख अपनी पीली चोंच से पी रही है। इतने में भर्तृहरिजी की समाधि खुली। भोलेपन आनंद आश्चर्य्य से भरी हुई—पता नहीं कहाँ को देख आई है। मुझे और आसपास की चीजों को तो कदापि नहीं देख रही थी

उनके कंठ मे स्वाभाविक ही शिव शिव की ध्वनि हुई। मैं पास बैठा हूँ। उनके दर्शन करते करते मेरे रोम रोम में शीतलता और सत्वगुण की बहार हो गई; मानो गंगास्नान से मेरी दरिद्रता दूर हो गई। उनकी ध्वनि की प्रतिध्वनि बहती गङ्गा के आलाप से सुनाई दे रही है। अद्भुत समय है। देखो इस चित्र को, बैठ जाओ।

(३) एक हरे हरे घास के बड़े लंबे-चौड़े मैदान के मध्य में दूध के रंग की एक नदी बह रही है। इसका जल साफ है। छोटे छोटे स्याह और काले, पीले और नीले, बड़े और छोटे शालग्राम गोता लगाए बैठे हैं। कई एक बालक नंगे हो होकर ध्वनि-प्रतिध्वनि करते करते किनारे से कूद कूदकर स्नान कर रहे हैं। कोई तैर रहे हैं। उनके सफेद सफेद पीले पीले शरीरों पर कुछ तो जल की रोशनी है और कुछ सूर्य की ज्योति की झलक है। इन शरीरों से सुगंध आ रही है। मुझसे न रहा गया। कपड़े उतार मैंने भी नगे होकर कूदना शुरू कर दिया। पाठक ! अगर तेरा भी मन चाहे तो कपड़े उतार दे और इस ठंढे जल में कूद पड़। उन बालकों की तरह स्नान कर। मैं भी कभी कभी बाहर आकर नरम रेत के बिस्तर पर लोटता था। कुछ शरीर पर मलता था, कुछ अपने केशों पर डालता था। कभी धूप में बैठा, कभी गोता लगाया। बताओ तो अब अवस्था क्या है।

(४) एक और चित्र लटक रहा है। इसके देखते ही क्या पता क्या हुआ ? काली रात हो गई। हाथ पसारे भी कुछ

प्रतीत नहीं होता था परंतु जरा सी देर के बाद तारों की मध्यम मध्यम ज्योति चित्रकार के हाथ से झड़ी पड़ती है। ऊपर का आकाश, गहनों से लदी हुई दुलहन की तरह, इस एकांत में आ खड़ा है। इस चित्रकार की प्रशंसा करते करते मैं ठहर गया और कई घंटे ठहरा रहा। इस चित्रकार के ब्रुश से एक और भी अद्भुत चित्र साथ ही साथ देखा। ब्रुश का कोई ऐसा इशारा हुआ कि इस दूसरे चित्र में काली अँधेरी रात भागती प्रतीत होने लगी और कोई ऐसा विद्याकला का गोला चला कि कुल तारागण अपनी अपनी पालकियों में सवार हो बड़े जोर से भाग रहे हैं। मैं यह लीला देख ही रहा था कि अचानक रात थी ही नहीं और पर्वतों के पीछे से लाल लाल सूर्य निकल आया था। प्रातःकाल हो गया, गजर बज गए, फूल खिले, हवा चली। पक्षी अपने सितार ले मध्य आकाश में आशा अलापने लगे। पशु नीचे सिर किए हुए ओस से भरी हरी हरी घास को खाने लग गए। नदियाँ मानो एकदम अपने घरों से बह निकलीं। मैं और मेरी पत्नी साथ साथ जा रहे हैं और कभी इस शोभा को और कभी एक दूसरे को देखते हैं। पाठक! उठो अब तो भोर हो गया।

(५) कुछ एक सामग्री का ढेर लगा है। मनों ही पड़ी थी। अग्नि प्रज्वलित हुई। हवन कुंड में से लंबी लंबी ज्वालाएँ निकलने लगीं। हम दोनों देख रहे हैं। ऐसी पवित्रता का उपदेश हमने किसी गिरजे-मंदिर में कभी नहीं सुना।

(६) अभी जरा मेरे नेत्र जो फिरे तो क्या देखता हूँ कि एक टूटे-फूटे मिट्टी के किनारोंवाला कुंड है। उस पर सब्ज काई उग रही है। और कुछ एक प्रकार के पेड़ अपनी लंबी लंबी डालियों से तालाब के बाज हिस्सों को छाता लगा रहे हैं। परतु सारे तालाब पर कमल फूल अपने चौड़े चौड़े हरे हरे पत्तों के सिंहासन पर सारी दुनिया के राजसिंहासनों को मात करते हुए अपने सौरभ्य गौरव में प्रसन्न मन विराज रहे हैं। जो पवित्रता के स्वरूप को देखना है तो पाठक! क्यों नहीं प्रातःकाल इन कमलों को देखते ? पुस्तकों में और मेरे लेखों में क्या धरा है ?

(७) वाह रे चित्रकार! शाबाश है तेरी अद्भुत कला को, जिसने इस चित्र में, पता नहीं किस तरह, विराट् स्वरूप भगवान् को लाकर लटका दिया! सारे का सारा विराट् स्वरूप जगत् दर्शाया है। और यह भी किसी की आँख में, परंतु किस कला से दर्शाया है, न तो आँख नजर आती है, और न आँखवाले के कहीं दर्शन होते हैं। केवल विराट् स्वरूप ही देख पड़ता है। मुझे कृष्णजी महाराज का खयाल आया। उनके मुख को देखा, पर उनका चित्र ऐसी कला से सयुक्त नहीं। क्योंकि साथ ही साथ देखनेवाला भी नजर आ रहा है। इस अद्भुत चित्र के अंदर ही अंदर गुप्त प्रकार से लिखा है "पवित्रता"। इस शब्द को ढूँढ़ना है। जब तक यह न ढूँढ़ लूँ, इस चित्र को कैसे छोड़ सकता हूँ। यत्न पास खड़ा है। चित्रकार ने अपने इस चित्र के दर्शन का यह मूल्य रखा है अगर आगे

बढ़ता हूँ तो साँस घुटी जाती है। ऐसा न हो कि युधिष्ठिर राजाधिराज के भाइयों की तरह इस चित्र देखने का मूल्य मृत्यु ही हो! मुझे अवश्य इस गुप्त शब्द को ढूँढ़ना है, न ढूँढ़ूँ तो मृत्यु हो जायगी, दुःख होगा। भला ऐसे चित्र को देखना और उसके दर्शन की शर्त को न बजा लाना ऐसा ही पाप है कि मृत्यु हो जाय!

ऊपर के आए हुए चित्र तो साधारण तौर पर कुछ कठिन भी हों। और यदि पवित्रता का स्वरूप न भी भान हो तो नीचे और चित्रों के दर्शन से मैंने कई एक को पवित्रता का अनुभव होते वास्तव में देखा है।

(८) एक टूटा-फूटा, कच्ची ईटों का, मकान है। दीवारें इसकी मिट्टी से लिपी हुई हैं। इसकी छत घास के तिनकों से बनी है। किसी पक्षी का घोंसला नहीं। यह अच्छा बड़ा है। दरवाजा इसका बहुत छोटा है। जरा अपनी लंबाई को कम करके जाना पड़ेगा। सर झुकाकर अंदर घुसना पड़ेगा। इसके अंदर क्या प्रभुज्योति से चमकती हुई एक देवी बैठी है। उसने मुझे नहीं देखा और न आपको। बैठ जाइए, इसकी गोद में एक छः महीने का, चाँद से मुखवाला, बालक है जिसके सफेद सफेद कपोलों पर काले बाल लिपट रहे हैं। यह बच्चा दूध पीते पीते सो गया है। यह विद्या सुंदरता से भूषित सुंदरी, इस अमूल्य बालक की माता है। अपने अत्यंत प्रेम को दिल से बहा बहाकर आँखों द्वारा इस सोते बालक पर सफेद ज्योति की

किरणों के समान बारिश कर रही है। इस प्रेम नूर की झड़ी साफ बरसती प्रतीत होती है। यह मरियम और ईसा है, इस मरियम ने घर घर अवतार लिया है। घर घर यह अमूल्य ईसा इस तरह अपनी माँ की गोद में सोया है। रैफल जैसे वैद्य, और सर्वकलासंयुक्त चित्रकारों ने अपने सर्वस्व को इस चित्र की पवित्रता के चिंतन में हवन कर दिया है। आयु इसकी प्रशंसा करते करते व्यतीत कर दी। माता की इस पवित्रता-स्वरूप निगाह, ध्यान करते करते मातावत् पवित्र-हृदय हो गई। माता के इस रूप में लाखों पुरुषों ने जीवन का बपतिस्मा लिया। इस चित्र के नीचे लिखा है "पवित्रता का नमूना"। पाठक! मेरे लेख में आगे क्या धरा है। जरा अपना बिस्तर खोल दो, जल्दी पढ़ने की मत करो। हो सके तो इस झोंपड़ी में दिन-रात रहो तो सही। और कहाँ जाना है। इस देवी के चरणों में बैठ जाओ। इस पवित्र भाव की रज को अपने अंदर के शरीर पर लगाओ। अपने मन को यही विभूति लगा। लो। शिवरूप हो जाओगे। मरियम और उसके बच्चों की तसवीर को हजार बार देखा होगा। परंतु अब बैठ जाओ। हर झोंपड़ी के अंदर देखो कौन बैठा है।

(९) यह मरियम का लाड़ला बच्चा मा का दूध पी, मा का अत्यंत प्रेम पान करके जवान हो गया। लटें इसके कंधों पर लटक रही हैं। इसके रूप पर अद्भुत तेज है। इसके नेत्र

आकाश को उठे हुए हैं। पता नहीं किसको देख रहे हैं । इसका मस्तक चमक रहा है। पहचानो तो, यह कौन सपूत है।

(१०) समुद्र बीच में है। किसी की प्यारी बहन अपने देश में समुद्र के किनारे खड़ी है, और प्यारा वीर किसी जहाज को लेकर अन्य देशों में गया हुआ है। परन्तु यह बहन हर रोज उसके जहाज को देखने की आशा में समुद्र के विशाल विस्तार को घंटों देखती रहती है। जरा इसकी आँख को पूरे अनुभव से देखना । कभी कभी उस एक आँसू को भी देखना जो आँखों से झड़कर समुद्र के जल में लीन हो जाता है। हो सके तो इसको अपनी बहन जानकर अब अपने हृदय को भी आज-माना। यह भी पिघलता है कि नहीं ? वह जहाज आया । सीटी बजी। लंगर गिरा। भाई ने दूर से अपने रूमाल को लहरा लहरा कर हृदय में प्यारी बहन को नमस्कार किया। बहन ने भी दूर से अपने पतले पतले बाहु पसार अपने सुंदर हाथों से अपने वीर का स्वागत किया । न्यौछावर हुई। इतने में भाई बहन दोनों एक दूसरे के गले लगकर रो पड़े। इस चित्र के नीचे लिखा था "पवित्रता का बादल" छम छम छम छम, रम झम, रम झम।

(११) दूर दराज से पिता सफर तै करके घर आया है। वह पुत्री दौड़ती बाहर आई है। इस कन्या की साड़ी सिर से उतर गई है। इस तेजी से दौड़ी है कि खुले केश पीछे पीछे रहे जाते हैं । मुख खुला है । बोल कुछ नहीं सकती । इतने में पिता उसे गले लगाकर ज्योंही अपनी पुत्री के सिर पर प्यार देने झुका

तो आँखों से मोतिय का हार झलककर उसके केशों पर बिखर गया। यह मोतियों का हार इस चित्र में क्या सुहावना लगता है !

(१२) सीताजी अयोध्या में अपने महल की सीढ़ियों पर खड़ी हैं, और लक्ष्मणजी धनुष-बाण कंधे पर रखे, सर झुकाए हाथ जोड़े पास खड़े हैं, इनके चरणों की ओर देख रहे हैं, और सीताजी के मनोरंजक वाक्य और आज्ञा को सुन रहे हैं।

(१३) जंगल बियाबान (निर्जंतुक) है। लबे लंबे पेड़ खड़े हैं । कोई सुखे हैं कोई हरे । सत्यवान्जी कंधे पर कुल्हाड़ा रखे आगे आगे जा रहे हैं। देवी सावित्री पीछे पीछे जा रही है । एक जगह दोनों बैठ गए हैं। वे इनको देखती हैं, ये उनको देखते हैं। वे उनकी गोद में और ये इनकी गोद में लेट रहे हैं।

(१४) नदी पर एक एकांत स्थान में बहुत सी कन्याएँ, स्त्रियाँ, देवियाँ स्नान कर रही हैं । शुकदेव जी पास से गुजर रहे हैं। उनको कोई भय नहीं हुआ । वे वैसे की वैसे खुल्लमखुल्ला नंगी नहा रही हैं। नदी का जल मारे आनंद के कूद रहा है। ये उछल रही हैं।

(१५) वह राजबालक ध्रुव, ताड़ी (समाधि) बाँधे जंगल में शेरों के मुख में अपने हाथ को दे रहा है, खेल कर रहा है। प्रतीत होता है लड़ रहा है।

(१६) छोटे छोटे बहुत से बच्चे बैठे हैं, पुस्तक हाथ में है और पढ़ रहे हैं, काँय काँय हो रही है।

(१७) एक नौजवान है फटी हुई बिना बटन की कमीज गले में है। सिर नंगा है। पाँव नंगा है। किसी की तलाश में है। चारों ओर देखता है। कभी इस पेड़ के और कभी उस पेड़ के पास जा खड़ा होता है। रोता है। वृक्ष भी उसके साथ रो उठते हैं। प्रेम की मदहोशी में वह गिर पड़ा है। आँसू बह रहे हैं। पृथ्वी की रज उसके बालों में विभूति की तरह लग गई है। कभी गिरता है, कभी उठता है। कभी बादल को देख उसे जाते जाते खड़ा कर लेता है। शायद किसी को पत्र भेज रहा है। नदी से, पत्थरों से, पक्षियों से, पशुओं से बातें करता जा रहा है। अभी यहाँ था, अब नहीं है।

(१८) दमयंती राजहंसों के पास खड़ी है। नल का इंतजार कर रही है। आप भी पास बैठ जाइए। आपकी माता है, बहन है, देवी है।

(१९) एक अनाथ अजनवी अभी अपने प्राणों को त्याग, एक दरख्त के नीचे सड़क-किनारे उस नींद में सो रहा है, जिससे कभी नहीं जागेगा। अपना शरीर आपके हवाले कर गया। उसका मृत्यु संस्कार आपको करना है।

(२०) राजा जनक की सभा लगी है। ऋषि लोग बैठे हैं। ब्रह्मवादिनी गार्गी आँखों में कपिलवाली लाली लिए हुए आ खड़ी हुई है। सब आश्चर्यवत् हो गए। गार्गी नंगी है, पर बिजली के जोर में यह देवी कह उठी—जाओ अभी सब शूद्र हैं चमार हैं। वह जा रही है। आकाश प्रणाम करता है, पृथ्वी काँप रही है।

(२१) सफेद ऊन के कोट पहने ये छोटी छोटी भेड़ें इस टप्पर में दर्शन दे रही हैं। कोई खड़ी, कोई बैठी और कोई फलाँग मार रही है।

(२२) क्या सुहावना अरबी घोड़ा खड़ा है, काठी-लगाम से सजा हुआ है। सवार लड़ाई मे शहीद हो गया है। यह घरवाले संबंधियों को खबर करने अकेला ही चला आया है। दुलदुले बेयार सामने खड़ा है। कौन इस अनाथ घोड़े को देख नहीं रो उठेगा। पाठक! क्या हृदयगम्य उद्देश को लिए जगत् में एक ही अपनी मिसाल आप खड़ा है। मुख नीचा किए हुए किसी दर्द से पीड़ित हो रहा है।

(२३) मेवाड़ देश की महारानी, भारतवर्ष की जान, मीरा-बाई राज छोड़कर रज पर बैठी है। उसके दिव्य नेत्र खुले हैं। साधारण जगत् कुछ भी नहीं देख रहा है। इतने मे राजाजी ने मस्त हाथी दौड़ाया कि इस देवी को कुचल डाले। मैं पास बैठा हूँ। क्या देखता हूँ कि देवी के पास आ हाथी की मस्ती खुल गई। उनके चरणों में नमस्कार की और चल दिया। जब कभी मेरा हृदय विक्षिप्त होता है, मै यहाँ आकर इस देवी के चरणों की रज को ले अपने मस्तक और नाभि, दिल और चक्षु और सिर में लगा उन्हें पवित्र करता हूँ।

(२४) राजाओं के राज्य, राजधानियों की राजधानियाँ नष्ट हो गई। वे तख्त जिस पर बैठते थे तख्ते हो गए, मिट्टी में मिल गए। परंतु समय के प्रभाव को देखिए। सारे भारतवर्ष की

महारानी नूरजहाँ रावी नदी के किनारे लाहौर शहर के उस तरफ मामूली धरती की गुफा में लेटी है, कभी कभी उठकर एक निगाह इस सारे देश पर करती है। सब्ज काही रोज जा जाकर उसके चरणों पर नमस्कार करती है। ग्रीष्म ऋतु रंग-बिरंग के पत्ते इसके ऊपर बरसाती है। वसंत ऋतु जब कभी आती है उसके सिर पर फूलों की वर्षा करती है। इस भारत की महारानी के स्थान की यात्रा यहाँ आ होती है। मुझे आप आशीर्वाद देते हैं, और अपनी मलका का दर्शन कर मैं अजीब भावों से भर अपने पाठक के मुख को देखता हूँ।

(२५) वह कौन बैठे हैं! कमल के फूल का सिंहासन है, उस पर पद्मासन लगाए निर्वाण-समाधि में लीन, कपिलवस्तु का राजकुमार बैठा है। जगत् को जीत चुका है। राजाओं का राजा है। बुद्ध के पत्थर के गढ़े चित्र तो कई देखे, वे भी अद्भुत हैं। पर शाक्यमुनि बुद्ध आप सभी से अद्भुत है। दर्शन दुर्लभ तो नहीं, वह रुकते तो नहीं, उनको तुम्हारी खबर भी नहीं। पर दीदार खुले होते हैं। जहाँ बुद्धजी का चित्र है, वह मन पवित्र है, स्थान पवित्र है।

(२६) किसी गाँव की एक गली है। किसान लोग रहते हैं। वह कौन आया! जिसे देखने सब के सब नर-नारी बालक घरों से बाहर निकल आए। नीली नीली विभूति रमाए, एक हाथ में भिक्षा-पात्र, दूसरे हाथ में पार्वती को पकड़े साक्षात् शिव-पार्वती आ रहे हैं। अब मंगल होगा। सब को वर मिलेंगे। वह लो—

शिवजी ने सिंघी बजाया। सोने के बर्तन में दूध भरे गाँवों की स्त्रियाँ भिक्षा देने आई हैं। ठहरते तो नहीं, जा रहे हैं। मंगल, आनंद, सुख की वर्षा करते जा रहे हैं।

(२७) कलकत्ते के पास एक निरक्षर नंगा कालीभक्त है। कालीभक्त क्या? ब्रह्मकांति का देखनेवाला फकीर है। इसके नेत्र और इसका सिर, मेरे तेरे नेत्रों और सिरों से भिन्न हैं। किसी और धातु के बने हुए हैं। मामूली साधु नहीं, जो छू छू करते फिरते हैं। एक कोई स्त्री आई। आप चीखकर उठे। माता कहकर उसके चरणों पर सिर रख दिया। मेरी तेरी निगाहों में यह कंचनी ही थी। पर रामकृष्ण परमहंस की तो जगत् माता निकली। देखकर मेरी आँखें फूट गईं। और मैंने भी दौड़कर उसके चरणों में शीश रख दिया। तब उठाया, जब आज्ञा हुई। दरिद्रो! तुम क्या दे रहे हो? मेरे सामने परमहंस ने कुल विराट् इस माता के चरणों में लाकर रख दिया। नेत्र खोल दिए। अहिल्या की तरह अपना साधारण शरीर छोड़कर यह देवी आकाश में उड़ गई। कहोगे "पूर्ण" तो मूर्तिपूजक हो गया? कुछ भी कहो—मेरे मन की कोठरी ऐसी मूर्तियों से भरी है। इस बुतपरस्ती से पवित्रता मिलने के भाग खुलते हैं, पवित्रता का अनुभव कर ब्रह्मकांति का दर्शन होता है।

कंगाल तो मैं हूँ जरूर और मुझमें कोई चित्र खरीदने का बल नहीं। परंतु मित्रो! आकाश से एक दिन अमूल्य चित्रों

की बारिश हुई थी। मैंने अपने घर के नीचे-ऊपर से, सहन से, छत से इकट्ठा करके एकत्र कर लिए थे। पहले तो रखने का स्थान नहीं था परंतु जब प्रेम से मन की दीवारों पर लगाने लगा तो क्या देखता हूँ कि मेरे मन में अनंत स्थान है और आनंद से चित्र लटक रहे हैं। मित्रो! सारे विराट् को लटकाकर मैंने देखा कि अभी मेरा कमरा खाली का खाली ही था।

आजकल के उपदेश किए जा रहे पवित्रता के साधनों पर एक साधारण दृष्टि

प्रिय पाठक! प्रथम मुझको यह प्रकट करना है कि इस शीर्षक के नीचे आकर यदि कई इस देश के बड़े बड़े आदमी भी कट जायँ, यदि कई एक बे-नाम भारतनिवासियों के दिल के खिलौने टूट जायँ, यदि कई एक बागियाना विचार आजकल के कल्पित हिंदू धर्म के विरुद्ध युद्ध का झंडा उठावें, यदि प्राचीन ऋषियों की आज्ञा का भी कहीं कहीं पालन न हो, यदि सोमनाथ के मुर्दों और हृषिकेश एवं हरद्वार के जीते लोगों के पूजा के शरीरों का अंत हो जाय; कुछ भी हो, उससे कभी भी यह परिणाम न निकालना कि मेरा अभिप्राय स्वप्न में भी प्राचीन ऋषियों—ब्रह्मकांति में रहनेवालों—की आज्ञा का तिरस्कार करने का है, या उनके उपदेश किए हुए आदर्शों के तोड़ने का है, या आक्षेप लगाना स्वीकृत है, या कभी उनके सम्मुख होकर बिना सिर झुकाए गुजरना है या किसी प्रकार से अपने देश-

निवासियों के हृदय को दुखाना है या क्लेश देना है। मेरा अभिप्राय कुछ है, परंतु किसी दशा में भी वह नहीं, जो बता चुका हूँ।

दुनिया की छत पर खुश खड़ा हूँ तमाशा देखता।
गाहे ब गाहे देता रहा हूँ वहशियों की सी सदा॥

मेरी तो एक "वहशियों की सी सदा" है। सुनो या न सुनो इससे कुछ प्रयोजन नहीं, ईश्वर की इस लीला में आप वहाँ रहते हैं, मैं यहाँ रहता हूँ। इसलिये क्षमा माँगकर अब मैं अपनी दृष्टि, अपने ऐसे ही माने हुए देश की ओर फेरकर जो देखता हूँ वह बेधड़क कह देता हूँ।

त्याग, वैराग्य और इनके अनर्थ

देश में, पता नहीं, न जाने कहाँ से किधर से कैसे और क्यों अपवित्रता आ गई है कि हमारे हाथ ऋषियों का इतना बड़ा आदर्श—त्याग और वैराग्य का आदर्श—मटियामेट हो गया? महात्मा बुद्ध ने त्याग किया, ईसा ने त्याग किया, शंकर ने त्याग किया, रामकृष्ण परमहंस ने त्याग किया, स्वामी दयानंद ने त्याग किया, स्वामी राम ने त्याग किया, भर्तृहरि ने त्याग किया, गोपीचंद ने त्याग किया, पूर्ण भक्त ने त्याग किया और वैराग्य का बाना लिया। बस अब किसान भी हल जोतने का त्याग उनका सा रूप सँवार चले गंगातट को, चले हृषीकेश को। वहाँ अन्न मुफ्त मिलता है। छोटे छोटे बालक और नवयुवक भी कूदे। अहह! आदर्श

के दर्शन हुए, कमीज और पाजामा उतार दिया। जोश आया, वैराग्य आया, गेरुए रंग के वस्त्र धारण किए हुए फिर रहे हैं और दिन कटता ही नहीं, रात गुजरती ही नहीं। जंगल खाता है। एकांत भाता ही नहीं। सभाएँ हों, पुलपिट हों, कालिज हों, स्कूल हों, आप अपने आपको दान देने को तैयार हैं। बलिदान हो चुका, यज्ञ हो गया। स्त्री का मुख देखना पाप है। बड़े बड़े वैराग्य के ग्रंथ खोल, गेरुआ रँगे हम अपनी माता बहिन और कन्याओं को नग्न कर करके उनके हड्डी मांस की नस नस को गिन गिनकर तिरस्कार करते हैं। क्यों भाई! बिना इसके भला वैराग्य और ब्रह्मचर्य्य का पालन कब होता है? वैराग्य और त्याग के उपदेश हो रहे हैं कि बस आत्मिक पवित्रता इसी में आएगी। जगत् बस अभी जीता कि जीता, किला सर हो गया। आपका बोलबाला हो गया।

नहीं प्यारे! जरा थम जाओ, जरा अपने शरीर को देखो, जरा बुद्ध के शरीर को देखो, जरा शंकर भगवान् के रूप को देखो, जरा बड़े बड़े महात्माओं के शरीर को देखो। यदि ये शरीर पवित्र हैं तब उनकी माता का शरीर किसलिये अपवित्र मान लिया! यदि इन सबको पीतांबर पहनाकर पूजते हो तब वैराग्य और त्याग में मस्त लोगो, भला इनकी माताओं को, इनकी बहनों को, इनकी कन्याओं को क्यों नग्न कर रहे हो?

द्रौपदी की साड़ियाँ उतार उतार अपनी पवित्रता के साधन कर रहे हो? फूँक क्यों नहीं डालते उन ग्रंथों या हिस्सों को

जहाँ तुमको ऐसा बहशी बनाकर पवित्र बनाने के झूठे वचन लिखे हैं। किससे छिपाते हो? ज्यों ज्यों द्रौपदी को नग्न करने में लगे हो त्यों त्यों तुम्हारा वैराग्य और त्याग गंगा में बह रहा है। गेरुए कपड़े के नीचे वैसे के वैसे न सजे हुए पत्थर की तरह तुम निकले। ऐसा तिरस्कार करना और अपवित्र होना यह तो मन की चंचलता और ध्यान के अद्भुत नियमों को हड़ताल लगाना है। कदाचित् असंभव संभव हो जाय परंतु ऐसे वैराग्य और त्याग से जिसमें अपनी माताओं, बहनों, कन्याओं के नग्न शरीरों को नीलाम करके पवित्रता खरीदनी है तब कदाचित् पवित्रता न कभी मन में आयगी, न दिल में, न आत्मा में और न देश में ही। मेरा विचार है कि कारण चाहे कुछ भी हो, हमारे देश में इस झूठे त्याग और वैराग्य के उपदेश ने पवित्रता, अकपटता, सचाई का नाश कर दिया है। जिस उपदेश में मेरी माता का, मेरी बहन का, मेरी स्त्री का, मेरी कन्या का तिरस्कार हो और वैसे ही तुम्हारी का, भला वह कब मेरे तेरे हम सब के लिये—देश भर के लिये—कल्याण-कारी हो सकता है? सूर्य चाहे अंध होकर काला हो जाय, परन्तु जहाँ स्त्री-जाति का ऐसा तिरस्कार होना है वहाँ अप-वित्रता, दरिद्रता, दुःख, कंगाली, झूठ, कपट राज्य न करें, चांडाल गद्दी पर न बैठें यह कदापि नहीं हो सकता। हे बुद्ध भगवन! क्यों न आपने अपने बाद आनेवाले बुद्ध के नाम को ले लेकर संसार को अपवित्र बनानेवालों का

विचार किया ? क्यों न आपने डंके की चोट से इस अनर्थ के निवारणार्थ अपने बाद इस पुरुष की माता, पुत्री, बहन को, स्त्री को, इस नीचे पुरुष के लिये अपने सामने उच्च सिंहासन पर बिठा इसको आज्ञा दी कि बचपन से लेकर जब तक इसको ब्रह्मकांति का महा आकर्षण स्वाभाविक बुद्ध न बना दे तब तक यह अपना क, ख, ग, घ और अ, आ, इ, ई इस देवी के सिंहासन के पास बैठकर पढ़े। जो कुछ हो गया या बुद्ध पैदा ही हुआ उसे आपको भिक्षुक होने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ? आपको किसने उपदेश दिया था कि आपने कपिलवस्तु राजधानी को लात मार युवावस्था ही में ब्रह्मकांति की तलाश में—उस अनजानी ज्योति के स्वरूप की तलाश में—जंगल जंगल घूम अपने शरीर को सुखा लिया, हड्डियाँ कर दिया। हे भगवन् ! आकर अब जरा देखिए तो सही, आपके बाद आज तक बुद्ध कोई न हुआ। किसी माता को आपकी माता के समान ब्रह्मकांति का दर्शन लाभ न हुआ और कोई माता भी ब्रह्मकांति को अपने गले में ले बुद्ध को अपने पेट में अनुभव न कर सकी। आपका नाम ही नाम रह गया है जिसके सहारे कई ईंट पत्थर रोडे के मंदिर खड़े हो गए। बुत बन गए परन्तु मनुष्य डूब गया। इसके नीचे आ मर गया, मनुष्यता अपवित्रता की कीचड़ में फँसकर मर ही गई। जिसके बचाने के लिये आप आए थे वह न बचा !

हे शंकर भगवन्! आपसे विनयपूर्वक आज्ञा माँगकर आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ। आपको तो हिमालय भाता था, आपको तो वेद श्रुति दर्शन-ग्रंथ, ब्रह्मकांति के दर्शन, कोई और काम न करने देते थे। आपको कोई और हल न चलाना था। आपके दर्शनों ही से सूर्य और चंद्र उसी नीली खेती में ज्योति स्वयमेव बोते थे। परंतु मैं तो एक अपने अपवित्र देशनिवासियों के विरुद्ध अपील लेकर आया हूँ। आपके जाने के बाद संन्यासाश्रम का नाश हो गया। सच कहता हूँ, मेरे देश का संन्यास अपवित्र हो गया, क्षुद्र हो गया। आपने तो इन लोगों की खातिर अपने एकांत के सुख को, जो आचार्य गौड़पाद ने भी न छोड़ा, त्यागकर इनके कल्याण के लिये दिग्विजय किया। काश्मीर से रामेश्वर तक आपने ब्रह्मकांति का गायन किया। परंतु आपके जाने के बाद लोगों ने इस देश में गंगोत्तरी, हृषीकेश, केदारनाथ, बदरीनारायण को भी अपवित्र कर दिया। गेरुआ रंग को न तो पवित्र धरा पर ही रहने दिया और न आपके शरीर पर। अब तो गेरुआ रंग मखमल के तकियों पर, चमड़े की बग्घियों पर, जागीरों और मठों के एकत्र किए हुए खजानों पर रखा है। दासत्व, कमजोरी, कमीनापन, कपट का पर्दा हो रहा है।

भगवन्! तीसरा नेत्र खोलकर जरा इस देश के गेरुआ रँगे उपदेशकों के अंदर के अंधकार को क्यों नहीं देखते? सारा देश तो आपके पीछे इनको आपका रूप जानने लगा है।

परंतु ज्यों ज्यों समय गुजरता जाता है त्यों त्यों मृत्यु और दुःख भूख और नग्नता इस देश में बढ़ रही हैं। क्या ब्रह्मज्ञान का फल यही है? महाराज! सरस्वती देवी से तो आप छः महीने हारे रहे, क्यों न आपने हार मान ली और उस देवी को अपने सिंहासन पर बिठाया और क्यों न आप इस देश में इस देवी का राज्य अटल कर गए। आप मेरे देशनिवासियों की माता पिता हैं। फिर यदि अपने हाथों स्त्री और कन्या को राजतिलक दे जाते तब क्या शंकर का इस देश में जन्म लेना कभी ऐसा असंभव होता, जैसा अब हुआ है? मैं आपका बागी पुत्र आपसे प्रेम की लड़ाई करने आया हूँ। आपको यह राज्य अब देना ही पड़ेगा। आपके चरण इस पृथ्वी को स्पर्श कर चुके हैं। इस देश की रज को आपका स्वरूप मानकर मैं तो अब लो यह राज्य दिए देता हूँ।

जब तक आर्य्य कन्या इस देश के घरों और दिलों पर राज्य नहीं करती तब तक इस देश में पवित्रता नहीं आती! जब तक देश में पवित्रता नहीं आती, तब तक बल नहीं आता। ब्रह्मचर्य्य का प्राचीन आदर्श सुख नहीं दिखलाता, देश में पवित्रता लाने का हे भगवन्! अब तो पहला संस्कार भारत-कन्या को राज्यतिलक देना है।

सच है, देश में अपवित्रता समष्टि रूप से है। एक दो को यदि पवित्रता किन्हीं और साधनों से आ भी गई तो वह साधन क्या हुए जिन्होंने मेरी और तेरी आँख ठीक न की।

ब्रह्मचर्य्य का उलटा उपदेश

ब्रह्मचर्य्य का उपदेश इस देश में प्राचीन काल से चला आया है और आजकल कोई भी समाज हो, मंदिर हो, सभा हो, सत्संग हो, जहाँ इस देश में ब्रह्मचर्य्यपालन के ऊपर उत्तम से उत्तम व्याख्यान और उपदेश न होते हों, परन्तु अपने दैनिक जीवन को देखो। कल यदि सात फुट लंबे आदमी थे तो आज छः फुट रह गए। कल के कालिजों में जो पाँच फुट के बालक पढ़ते थे आज चार फुट के ही रह गए। क्या उलटा परिणाम है। न हृदय में बल, न बुद्धि में शक्ति, न मन में साहस, न उच्च विचार, न पवित्र जीवन, न दया, न धर्म, न धन, न माल और इस देश में जहाँ ब्रह्मर्षियों ने संसार के आदि में गाया था :—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ ६ ॥ य० १६ ।६॥

और अफ्रीका के हबशी जिनको ब्रह्मचर्य्य का आदर्श कभी स्वप्न में भी नहीं आया, वे हमसे लंबे, हमसे चौड़े और हमसे अधिक पराक्रमी हैं।

इंगलैंड में जहाँ इस पर कभी इतना जोर न दिया गया, वहाँ के आजकल के लड़के भी हम से अधिक लंबे, चौड़े, बलवान, तेजस्वी, ज्ञानवान, विद्वान, संपत्तिमान, बुद्धिमान हैं। हमारी कन्याएँ दुबल, पीले रंग की, जवानी में भी बुड्ढी सी

और उस देश की माताएँ और कन्याएँ छः छः फुट ऊँची, सुर्खी और बल और तेज की हँसी लिए हुए अकेली सारे जगत् को प्रातःकाल चलकर घूमघाम शाम को घर पहुँच जायँ।

जापान को देखो। वहाँ किसी बालक को कभी ब्रह्मचर्य का आदर्श इस जोर से, इस अगड़ रगड़ से, नलों से नहीं पिलाया जाता—जैसे यहाँ। परन्तु सबके सब फूलों के समान खिले चेहरेवाले हैं, बलवान् हैं; विद्यावाले हैं, महान् अनुभवोंवाले हैं, उच्च उद्देश्यवाले हैं। हर कोई कहता है—

डटकर खड़ा हुआ हूँ खाली जहान में।
और तसल्ली दिल भरी है मेरी दम में जान में।

कौन सा प्रलय आ गया कि हमारे देश से ब्रह्मचर्य का आदर्श अमली तौर पर बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो गया? नजर ही नहीं आता; मुझको देखो, तुझको देखो, इसको देखो, उसको देखो। सब जले भुने सड़े सड़ाए चेहरे लिए हुए आर्य ऋषियों का नाम ले रहे हैं।

बस महाराज! ब्रह्मचर्य के इस विचित्र उपदेश को बंद करो जिसमें तुमने स्त्री जाति का तिरस्कार किया है। अमली तौर से वैराग्य के घन उपदेशों से स्त्री जाति का तिरस्कार किया है। ब्रह्मचर्य अब इस अपवित्र देश में बिना मातृ-भक्ति के, कन्या पूजा के कभी स्थापित नहीं हो सकता। इस देश में क्या, कहीं भी ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा ही उपदेश करते करते ईसा की हार हुई। बुद्ध की हार हुई, शंकर का दिग्विजय हार

में बदल गया। इस हार ने संन्यासी साधुओं के छक्के छुड़ा दिये। सारी फौज इन स्त्री जाति के अहित, ब्रह्मचर्य पालन करानेवाले जरनेलों की तितर-बितर हो गई, पता ही नहीं लगता कहाँ गई।

जब ये हार गए तब इनके स्वरूप पर गढ़े हुए आश्रम और समाज, स्कूल और कॉलिज कब जीत सकते हैं? इन रुंड मुंड संन्यासी रूप विद्यालयों को क्यों बना रहे हो? जो बुद्ध और शंकर का, ईसा और चैतन्य का दर्शन न करा सका वह भला मातृरहित, भक्तिरहित, कन्यारहित बी० ए० एम० ए० साधारण अध्यापकों की मिट्टी और ईंट के रूखे सूखे घर कब करा सकते हैं?

दान

दान लेना नहीं, दान देना भी एक पवित्रता का साधन माना जाता है परन्तु दान देने का वह प्राचीन भाव तो काफूर की तरह इस देश से उड़ गया है। दान देने से तो अपने पापों को जिनसे धन आजकल कमाया जाता है, छिपाने की गरज है।

पवित्रता के चिंतन और ग्रहण से क्या प्रयोजन है? जिस तरह रिश्वत दे देकर धन एकत्रित होता है उसी तरह ईश्वर को भी रिश्वत देकर स्वर्ग लेने की मनशा हो रही है। पैसा इकट्ठा करके वैसे दे देना, धर्मशाला बनवा देना, क्षेत्र लगवा देना, ईश्वर की आँखों में नमक डालकर अपने आपको चतुर कहना—भारतवर्ष के आजकल के जीवन के निघंटु में

दान के अर्थ यही मिलते हैं। बस! एकदम बंद कर दो दान देने को और रुपया जमा कर सकते हो तो करो। किसान की तरह अपना पसीना जमीन के अंदर निचोड़ जो कुछ दाने मिलते हैं उनको खाओ, स्वर्ग और ईश्वर को अपने तांबे और चाँदी के रुपयों और सोने के डालरों से खरीदने इधर उधर मत भागो। भूखे मर रहे हो, खुद खाओ और अपने बालबच्चों को खिलाओ और कुछ काल के लिये चुप हो जाओ। अपने बच्चों को विद्या दान दो, बुद्धि दान दो। यही तुम्हारा और यही ईश्वर का स्वर्ग है।

कहाँ हैं तुम्हारे साधु, जिनके हुकुम से हाथ बाँधे ये कलकत्ते के सेठ या पेशावर के ठेकेदार गुलाम फिर रहे हैं। अगर वे साधु हैं तो क्यों नहीं ब्रह्मतेज से इनका शासन करते? क्यों नहीं ताड़ते? उल्लुओं के स्वर्ग क्यों बनने देते हैं? हे राम! इनको क्या हो गया है कि सती स्त्रियों के गहने बिचवा बिचवा-कर अपना अमूल्य सिर छिपाने के लिये लाख लाख रुपयों की कुटिया बनवा रहे हैं जहाँ मार्कंडेय ने अपनी सारी आयु तारों की धीमी धीमी रोशनी के नीचे काट दी! कौन से क्षेत्रों से ये रोटी खा रहे हैं? जहाँ गरीबों का लहू निचोड़ निचोड़ जालिम रोटियाँ बनवा रहे हैं।

तप

बहुत उछले तो पवित्रता के साधन के लिये महाराज पतंजलि का ग्रंथ उठा लिया। होने लगे अब जप तप। माला

पकड़ी, आँख मूँद बैठे, ध्यान होने लगा है! अजी! ध्यान किस वस्तु का? किस स्वरूप को देखने को आँखें मूँदी हैं? वहाँ तो कुछ नहीं, मन कैसे लगे? एक दो घंटे मन को बेलगाम दौड़ाकर "शांतिः शांतिः शांतिः" कर योगीजी नजर जमीन पर लगाए हुए हैं। वह किसी अँगरेज के दफ्तर के हेडक्लर्क जा रहे हैं। कलम जब चलती है, दूसरों का गला काटती है। लिखते तो ठीक मेलट्रेन की तरह हैं। क्यों न हो? योग का बल हाथ में है।

पतंजलि महाराज ने अपना ग्रंथ मनुष्यों के लिये लिखा था। पशु तो उसका पाठ भी नहीं कर सकते। पतंजलि महाराज कृपा-कटाक्ष से आपको कुछ बुद्धि उत्पन्न हो गई थी। मैंने तो पक्षियों और पशुओं को भी जप तप संयम का साधन करते देखा। यह महाग्रंथ काठ के पुतलों के लिये कदापि नहीं लिखा गया जिनके हाथ में माला आई और सहस्रों वर्ष व्यतीत हुए। माला के मनके ही फिर रहे हैं। जप के साधनों का भी अंत नहीं हुआ। कुटिलता नीचता, कपटता अंदर भरी हुई है और माला मनकों के ऊपर से हजारों बार चली जाती है और इतनी सदियाँ हुई अब तक चली ही जा रही है। जब तक हम मनुष्य नहीं बन जाते तब तक तुम्हारे लिये कल्याण का साधन न कोई गुरु, न कोई वेद, न कोई शास्त्र, न कोई उपदेश हो सकता है।

इसका सबूत चाहो तो इस बाहर से माने हुए भारत-निवासियों के मकान, गली-कूँचे, घर का जीवन और सदियों

का लंबा जीवन देख लो। किसी ने इन काठ के पुतलों को जो कहा कि तुम ऋषिसंतान हो, बस अब हम ऋषिसंतान हैं। इसकी माला फिरनी शुरू हुई! इधर तो योग प्राप्त न हुआ, कैवल्य का कुछ सुख न देखा, इधर अब माला शुरू हुई है, देखिए ये कब ऋषि-रूप होते हैं। हमारी अवस्था भयानक है। मेरे विचार में प्राचीन ऋषियों के साथ आजकल के भारत-निवासी उनको शूद्रों की श्रेणी से भी कम पदवी के हैं। वे ऋषि अब होते तो सच कहता हूँ हमको म्लेच्छ कहकर हमसे धर्म-युद्ध रचते और हमें इस देश से निकाल इस धरती को फिर से आर्यभूमि बनाते। उन्होंने असुरों से युद्ध मचाया ही था और असुरों को परास्त किया ही था। वे जब असुरों को संहार न सके तो हम मैले-कुचैले लोगों को अपने पास कब फटकने देते! क्या असुर, जन्म से उनके पुत्र पौत्र नहीं थे?

ज्ञान

तप नहीं, दान नहीं, ज्ञान ही सही। हाय! वह वस्तु जिसको पाकर शाक्यमुनि बुद्ध हो गए, जिसको पाकर मीराबाई हमारे हृदय और बुद्धि को हिला देनेवाले बल में बदल गई, जिसको पाकर एक तरखान का बच्चा आधे जगत् का अधिपति हो गया, जिसको पाकर जुलाहे चमार चंडाल ब्राह्मणों से भी उत्तम पदवी को प्राप्त हो गए, जिसके चमत्कार से बालक ध्रुव अटल पदवी को पाकर न हिलनेवाला तारा हो गया, वह ज्ञान जिसकी महिमा गाते गाते महाप्रभु चैतन्य

अपनी सारी विद्या को भूल गए, जिसके महत्त्व से एक ऊँट लादनेवाला चाकर ऐसा बलवान् हुआ कि कुल पृथ्वी उस ज्योतिष्मान् पुरुष के बल से उभड़ उठी; उसके आ जाने से तो और भला क्या बाकी रहा परंतु नहीं, भारतनिवासियों ने एक प्रकार की पुड़िया और गोली बनाई है जिसको खाते ही चंद्रमा चढ़ जाता है, ज्ञान हो जाता है। वह हो पास तो फिर कुछ और दरकार नहीं होता। ओ जगत्वालो! बड़ी भारी ईजाद हुई है। छोड़ दो अपनी पदार्थविद्या, जाने दो यह रेल, यह जहाज, ये नए नए उड़नखटोले, हवा में तैरनेवाले लोहे के जजीरे। प्रकृति की क्यों छानबीन कर रहे हो? इससे क्या लाभ? हृषीकेश में वह अनमोल गोली बिकती है, और सिर्फ दो चपाती के दाम, जिस गोली के खाने से सारे जन्म कट जाते हैं, सब पाश टूट जाते हैं; और जीवन-मुक्त हो सारे संसार को अपनी उँगलियों पर नचा सकोगे, बिना नेत्र के, बिना बुद्धि के, बिना विद्या के, बिना हृदय के, बुद्धवाले निर्वाण, पतजलि-वाली कैवल्य, वैशेषिकवाली विशेष, वेदांतवाली विदेह मुक्ति मिलती है। बेचनेवाले देखो वे जा रहे हैं। तीन-चार पुस्तकें हाथ में हैं और तीन-चार पुस्तकें बगल में। आपको इन दो पुस्तकों के पढ़ने से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, ज्ञान हो गया है। एक बेचारा पंजाबी साधु गाता था—

"अगे आप खुदा कहा ऊँदेसा, हुण बन बैठे खुदा दे प्यो यारो"

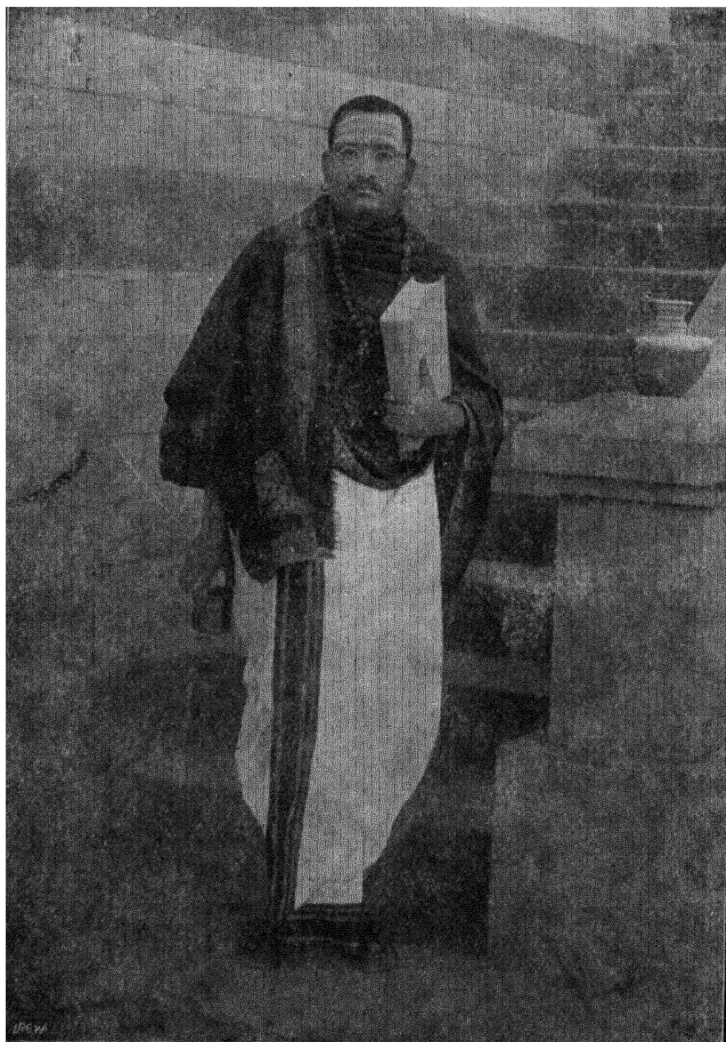
जब कि दूसरे ने यह वाक्य उच्चारण किया था—

"सन जोड़े सन कपड़े थे तौ आप खुदा,
जो मूरख नहीं तिसको भया सौदा"

प्यारे पाठक! पुस्तकों के ज्ञान से क्या लाभ? जो अपने जीवन का ही कुछ पता नहीं, पुस्तकें हमारे पास पड़ी हैं, और वह भी अँधेरी रात में! दोनों सोते हैं, कोई ज्योति चाहिए, कोई इंद्र की कला चाहिए जिसके मरोड़ने से बिजली के लैंप जल उठें। उस समय अगर जी चाहे तो एक आध पुस्तक का एक आध अक्षर पढ़ने से भी कुछ समझ पड़े और कुछ लाभ हो।

बांत बहुत लंबी होती जाती है। इन चोचलों से, इन मखौलों से, इन स्वप्नों से इस देश में कब पवित्रता आती है? ये तमाशे सारे ही अच्छे हैं, और ऊपर लिखे हुए कई एक साधन अधिक से अधिक पवित्रता के दाता हैं, पवित्रतावर्धक हैं परंतु किसी किसी को तो ये सब रोग के बढ़ाने के कारण होते हैं। विद्या कैसी अच्छी चीज है, परंतु कमीनेपन की विद्या अर्थात् केवल पुस्तकपूजा तो अधिक से अधिक उन्नति देती है। चतुरता आती है, कमीनेपन और नीचता के लिये उत्तम से उत्तम शास्त्र और दलील प्रमाण मिल जाते हैं। बल कैसी उत्तम चीज है, परतु एक जालिम के हाथ यह भी तो नीचता को अधिक करता है। धन इस समय के प्रचलित जीवन में कितना बड़ा संचित जोर है, परंतु देखो तो सही क्या कर रहा है।

इस तरह से साधनों के अच्छे या बुरे होने पर मुझे कोई पांडित्य-पूर्ण व्याख्या नहीं करनी, मुझे तो अपने देशकी अपवित्रता के दूर करने और अपने भाई-बहनों को मनुष्य बनाने के साधनों को देखना है। जब हम मनुष्य बन जायँगे तब तो तलवार भी, ढाल भी, जप भी, तप भी, ब्रह्मचर्य भी, वैराग्य भी सब के सब हमारे हाथ के कंकणों की तरह शोभायमान होंगे, और गुणकारक होंगे। इस वास्ते बनो पहले साधारण मनुष्य, जीते-जागते मनुष्य, हँसते-खेलते मनुष्य, नहाए धोए मनुष्य, प्राकृतिक मनुष्य, ज्ञान वाले मनुष्य, पवित्र हृदय-पवित्र बुद्धिवाले मनुष्य; प्रेम भरे, रस भरे, दिल भरे, जान भरे, प्राण भरे मनुष्य। हल चलानेवाले, पसीना बहानेवाले, जान गंवानेवाले, सच्चे, कपट-रहित, दरिद्रता-रहित, प्रेम से भीगे हुए, अग्नि से सूखे हुए मनुष्य। आओ सब परिवार मिलकर कुछ यत्न करें।



पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०

पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी

(११) कछुआ-धर्म

मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत्-कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या और कहीं उठकर चला जाय। यह हिंदुओं के या हिंदुस्थानी सभ्यता के कछुआ-धर्म का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने योग्य की कलंक-कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर, या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है—

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य

यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें—तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें—पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्त-सिंधुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिये तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूजवत् हिंदूकुश के एक मात्र दर्रे खैबर में होकर सिंधु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशान, शंड, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबी डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्त वधाय' 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहाँ जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गधर्व मारने

दौड़ते । हाँ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नरायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाता था। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति, कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने 'नवग्वाः', 'दशग्वाः' पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुँजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता कि वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'याही में बेटी और याही में बेटा', ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता। उसके पास सोम की मोनोपली थी और इन्हें बिना लिए सरता नहीं। अंत को गौ का एक पाद, अर्ध, होते होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखोंवाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है, पर हिंदू साहूकारों

को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह तो फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना—उन्हीं गंधर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना--पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गंधर्वों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारनेवाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाय, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दण्ड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्! युगंधरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति !!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते मारते तो सही बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्र-यात्रा बन्द! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन

करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित्त कराकर भी संग्रह बंद। वही कछुआ-धर्म ! ढाल के अंदर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। 'विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ?' कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था ? कछुए को ढाल के बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गए। और दूर दूर के गाँवों के कछुओं को यह खबर लगी तो बम्बई जाने में भी प्रायश्चित्त कर दिया गया।

हिन्दू से कह दीजिए कि विलायती खाँड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, चाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिये, उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा—वह खाँड खाना छोड़ देगा, बनी बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियाँ गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देशी खाँड के बेचने-

वाले भी सफेद बूरा बनाने के लिये वही उपाय करते हैं। वह मैली खाँड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खाँड़ मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस के मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा, या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खाँड छोड़कर डेढ़ सेर की कब तक खाई जायगी। यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जायगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मतिवाले शरबत न पीनेवालों की संख्या घटती घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ जा रही है। वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए रह नहीं सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान् की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए नए रत्न निकालने के लिये नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिये है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए

(आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ-कड़ी गिन गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा। किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस न बजे बाँसरी। यह जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम! जननीजठरे निवासम्", "ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं जनाः" और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायँगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु'—बिना खेती के फसलें पक जायं और पत्ते पत्ते में शहद मिले वहाँ इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है—

विनिर्गतं मानदमात्ममंदिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।

ससम्भ्रमेंद्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुँची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानों अमरावती ने आँखें बंद कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करनेवाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया! कछुए ने हाथ, पाँव, सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम से कम पाँच लाख हिंदू आगे-पीछे समुद्र पार जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिये विलायत जाने लगे तो हनोज रोज अव्वल अस्त! अभी पहला ही दिन है! सिर रेत में छिपा है!!

(१२) "मारेसि मोहिं कुठाउँ"

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को वनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले, अभी दे दूँगा, किंतु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाइं तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर लम्बी साँस भरकर कहा कि 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'— मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमें कुठावँ मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आए पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों की कमल-नाल की ताँत की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर मान प्राण-वाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों

से—फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण धातु पाया जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें से ऋषि भी हो गया जो विश्वामित्र के दादा गाधि या गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था जो दुनिया को चकरानेवाला सर्वांग-सुंदर व्याकरण हमारे यहाँ बना गया। पारस के पर्शों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन के कृश्वाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँचा गए। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में हैं, पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिष में यवनसिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्यूपेबल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चंद्रगुप्त मौर्य के जनाने में आई, यवन

राजदूतों ने विष्णु के मंदिर में गरुड़ध्वज बनाए और यवन राजाओं की उपाधि सोटर त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। गंधार से न केवल दुर्योधन की मा गांधारी आई, बालवाली भेड़ों का नाम भी आया। बल्ख से केसर और हींग का नाम बाल्हीक आया। घोड़ों का नाम पारसीक, कांबोज, वनायुज, बाल्हीक आए। शकों के हमले हुए तो शाकपार्थिक वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से चढ़ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी का सी नारंगी। कलचुरि राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पंजाब में वाहीक नामक जंगली जाति आ जमी तो बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में (गौर्वा-हीक:) महाविरा चल गया। हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा पर रोमक सिद्धांत ज्योतिष के कोश में आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्म (दिरहम) और दीनार (डिनारियस) हमारे भंडार में आ गए। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिए तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गए। कश्मीरी कवियों को प्रेम के अर्थ में हेवाक दे गए। मुसलमान आए तो सुलतान का सुरत्राण, अमीर का हम्मीर, मुगल का मुंगल, मसजिद का मसीति: कई शब्द आ गए। लोग कहते हैं कि हिंदुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते हैं कि पहले एक था अब बिखर रहा है। काशी की

नागरीप्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचंद वैज्ञानिक पुस्तकों में नई परिभाषा काम में लाते हैं। पिछवाड़े में प्रयाग की विज्ञान-परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आए तो कौन सी बाबू श्यामसुंदर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुंगल? तो भी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुरत्राण कहने लग गए। एकता तब थी कि अब?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो देवानां प्रिय मूर्ख को कहा करते थे। उन्होंने पुण्यश्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र कर दिया। हम निर्वाण के माने दिए का बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्त्विक दान भी उन्हीं ने दिया।

बकौल शैक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाउँ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दुकान का दिवाला निकल गया!! लेने के देने पड़ गए!!!

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिंदू' कहते हैं। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाए जाते थे वैसे विदेशी शब्द हिंदू की शरण लेनी पड़ती है और आर्यसमाज पुकार पुकारकर जले पर नमक छिड़कता है कि हैं! क्या करते हो? हिंदू माने काला, चोर, काफिर!! अरे भाई! कहीं बसने भी दोगे? हमारी मंडलियाँ भले 'सभा' कहलावें 'समाज' नहीं कहला सकतीं। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और समाज कहें (समाज पशुओं का टोला होता है)? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नहीं कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलावेगा, उसका नाम रह गया है—सनातन धर्म। हम हवन नहीं कर सकते, होम करते हैं। हमारे संस्कारों को विधि संस्कारविधि नहीं रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गई। उनके समाज मंदिर होते हैं, हमारे सभाभवन होते हैं। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया—चाहे जय रामजी कह लो, चाहे जय श्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि यह पहले पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। प्रत्येक मंगल-कार्य के आरंभ में हिंदू श्रीगणेशाय नमः कहते हैं। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस महावरे का अर्थ है कि अभी आरंभ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पंडितजी गरुड़पुराण की

कथा कहने गए। आरंभ किया श्रीगणेशाय नमः। सेठजी चिल्ला उठे—वाह महाराज! हमारे यहाँ तो यह बीत रहा है और आप कहते हैं कि श्रीगणेशाय नमः। माफ करो। तब से चाल चल गई है कि गरुड़पुराण की कथा में श्रीगणेशाय नमः नहीं कहते, श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं उसी तरह अब सनातनी हिंदू न बोल सकते हैं, न लिख सकते हैं, संध्या या यज्ञ करने पर जोर नहीं देते। श्रीमद्भागवत की कथा या ब्राह्मणभोजन पर संतोष करते हैं।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्कबाजी और लड़ाई में सब कुछ जायज है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, 'चत्वारि शृंगावाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है,' 'अष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों को मूर्तियाँ बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिंदू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते है काला, चोर या काफिर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि हि+इंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूषयत्येव हिंदुरित्युच्यते प्रिये।' यह उमा-महेश्वर-संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक "हिंदव विंध्यमाविशन्" को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते हैं कि इसी के पहले 'यवनैरवनिः क्रांता' भी कहा है, कभी महाराज

कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदासरचित विक्रम महाकाव्य में 'हिंदुपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिये महाराज कश्मीर का पुस्तकालय की कल्पना कि जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन के बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना, कालिदास के विक्रम संवत् चलानेवाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला, यूनानी नहीं) समय में हिंदूपद के प्रयोग की कल्पना कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है!!

बाबा दयानंद ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पचीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय होकर जीवे। हम समझ गए कि यह हमारे बालिकाविवाह की जड़ कटी—नहीं, बालिकारभस पर कुठार चला। अब क्या करें? चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति में से दूसरा वाक्य तुर्की बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्मग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिये उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते—और व्यवहार में मानते ही हैं—पर बाबा दयानंद ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिये। एक मुरादाबादी पंडितजी लिखते हैं कि हमारे पड़दादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है उसमें पाठ है—

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् ।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ कंसेंट बिल' देता है, बाबाजी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में है, न पाठांतरों में। न हुआ करे— हमारे पड़दादा की पोथी में तो है!

इसी लिये आर्यसमाज से कहते हैं कि "मारसि मोहि कुठाउँ"।

(१३) संगीत

मुझे इतना समय नहीं रह गया है कि आपके सामने ऐसी कहावतें रखूँ कि रोना और गाना सबको आता है; न मेरे यही रुचि है कि संगीत न जाननेवाले को द्विपद मृग और पुच्छविषाणहीन पशु बतानेवाले श्लोक यहाँ पर उद्धृत करूँ और इसके लिये भी समय अनुकूल नहीं है कि ऐसे वाक्यों के प्रमाण दूँ जिनमें कहा गया है कि शिशु, पशु और सर्प ही गीत का रस जानते हैं या साक्षात् शंकर ही जानते हैं, और विष्णु ने कहा है कि मैं, न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ और नी योगियों के हृदय में, परंतु मेरे भक्त जहाँ गाते हैं वहीं मैं रहता हूँ। मेरा प्रयोजन आज यह कहने से भी नहीं है कि ब्रह्मा के सामगान और विष्णु के वंशीवादन और शंकर के तांडवनृत्य को और सरस्वती की वीणा को सामने धरकर गीत वाद्य नाट्य का दैव रूप आपको दिखाऊँ। मुझे केवल दो बातें कहनी हैं।

एक तो यह कि भारतवर्ष की वर्तमान उन्नति में जिस समाज वा जिस प्रांत ने आगे पैर बढ़ाया है उसने संगीत का सहारा लिया है अथवा, गणितवालों के शब्दों में, जिस अनुपात में जो समाज वा प्रांत गानविद्या से विमुख है अथवा नहीं है। उसी अनुपात से वह समाज समृद्धि के मार्ग में पीछे पड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ है।

इस पर थोड़े ही से विचार की आवश्यकता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थनासमाजों ने संगीत और वाद्य की अपने विचारों के प्रचार में बहुत सहायता ली है। नई सनातनधर्म सभाओं ने भी भजनमंडलियों और नगरकीर्तनों से अपने को रहित नहीं रखा है। वंगदेश की सभ्य ब्राह्मो महिलाएँ, बंबई प्रांत की परभू जाति की कुलवतियाँ, मद्रास की उच्च ब्राह्मणों से लेकर नैयर जाति तक की ललनाएँ, अपने अपने प्रांतों की उन्नति लक्ष्मी की मूर्तियाँ बनकर संगीत और वाद्य का प्रेम दिखाती हैं। जैसा इधर के प्रांतों में संगीत को नीच जातियों का विषय मानने का पुराग्रह है, जैसी ही स्त्रियों की उन्नति को रोकने की कुप्रथा है वैसे ही यहाँ पर उन्नति देवी का आना दूर है। पजाब में भी जो कुछ जागृति दिखाई देती है तो उसके साथ ही साथ विष्णु दिगंबर पुलुस्कर के गंधर्व महाविद्यालय की चर्चा सुनाई पड़ती है।

मालूम होता है कि जैसे कृस्तान धर्म के पुराणकर्ताओं ने सब लोकों के घूमने से एक प्रकार का अनाहत नाद होना माना है जो परमेश्वर के सिंहासन के चारों ओर विजय-संगीत का स्वर सुनाता है, वैसा ही देशों की, मनुष्यों की और हृदयों की उन्नति में सगीत का एक तानलय प्रभाव है जो उन्नति की विजयपताका को उड़ाता हुआ चलता है।

हिंदू शास्त्रकारों को कहीं पर संगीत वाद्य आदि को गर्हित ठहरानेवाला कहा जाता है परंतु सब वाक्यों की मीमांसा करने

पर सारांश यही निकलता है कि असत् गीत वाद्यादिक की निंदा ही से वहाँ तात्पर्य है, विनोद और उच्च आनंदमय आह्लाद-प्रधान संगीत कि निंदा से नहीं। नहीं तो पतंजलि यह काहे को कहते कि 'ये वीणाया गायंति ते धन सनयः' और काहे को पवित्र यज्ञों में वीणागाथियों के गान और सम्मान की बातें जगह जगह सुनाई पड़तीं ?

मेरे वक्तव्य का दूसरा अंश यह है कि 'हिंदू और विशेषतः उच्च आर्य जातियों के प्रतिनिधि यदि संगीत की निंदा और अपमान करते हैं तो वे उस मार्ग से दूर जा रहे हैं जिस पर उनके 'पूर्वे पितरः' चले थे। यही नहीं, वे पितरों के कर्मों के विरुद्ध चल रहे हैं क्योंकि वे गवैयों के बेटे पोते हैं—उनके बहुत पुराने पुरुषा गवैए थे।'

आप आश्चर्य करेंगे। मैं फिर कहता हूँ कि आपके बाप दादा गवैए थे। संक्षेप से इस बात को विचारिए। सब वर्णों की उत्पत्ति आठ गोत्रकार ऋषियों से ही है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी उन्हीं गोत्रकार ऋषियों की संतान हैं। शूद्रों को जरा देर के लिए छोड़ दीजिए, क्योंकि वे गान की और गवैयों की निंदा नहीं करते। क्षत्रिय और वैश्य कुलों के वे ही ऋषि हैं जो ब्राह्मण कुलों के और ब्राह्मण कुलों के ऋषि न केवल वेदों के द्रष्टा थे, वे वेद-मंत्रों के ऋक्, यजु, साम नामक त्रिधा भिन्न स्तुति, कर्म और गान रूप प्रथा के चलानेवाले थे। जहाँ पर वैदिक कर्म में 'ऋग्भिः शंसति' और 'यजुर्भिर्जुहोति' है, वहीं पर 'सामभि-

गायति' भी है। कौन ब्राह्मण का बच्चा कह सकता है कि मैं इन गवैए ऋषियों की संतान नहीं हूँ ? कौन ब्राह्मण का बच्चा यह कहने का साहस कर सकता है कि ये ऋषि सामगान नहीं करते थे ? और संगीत से नाक चढ़ाकर कौन सा ब्राह्मण इन सात्त्विक गवैयों का अपमान नहीं कर रहा है ? तुम्बुरु का तम्बूरा ब्राह्मणों के वाद्य के संबंध का और राजर्षि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र क्षत्रियों के वाद्यनृत्य के साथ निकट संबंध का सदा साक्षी रहेगा।

क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्रकर्ता ऋषि वे ही हैं जो ब्राह्मणों के हैं। इस बात को छोड़ दीजिए। आजकल की क्षत्रिय जातियों के वंशधर अपने आपको प्रधानतः दो कुलों का बतलाते हैं—सूर्यवंश का और चंद्रवंश का। सूर्यवंश की प्रत्येक वंशावली दशरथ के पुत्र रामचंद्र के पुत्र कुश और लव के साथ मिलाई जाती है और चंद्रवंश की वंशावलियाँ भी देवकीपुत्र कृष्ण तक पहुँचाई जाती हैं। इन्हीं दोनों कुलों की बात सुन लीजिए।

चंद्रवंश की वंशपरंपराओं के आदि कमल वासुदेव कृष्ण को जो अपना पूर्वज मानते हैं वे किस मुँह से गाने बजाने की निंदा करते हैं ? कृष्णचंद्र ने न केवल स्वयं गीतागीत गाया प्रत्युत उसके कारण गाए हुए पंचगीत आज भी संस्कृत-साहित्य के प्रियतम रत्नों में से हैं। और उनकी वंशी बजाने की महिमा का तो कहना ही क्या ? मनुष्यों और देवताओं पर ही उसका व्यामोहन नहीं चलता था बल्कि पशु, पक्षी, तरु, लता, नदी, पर्वत—सब

उस धुन से मस्त थे। यहाँ पर पंचगान के दो-तीन पद जरा ध्यान से सुन लीजिए। मैं मूल संस्कृत नहीं कहता, मथुरा के मारवाड़ी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मधुर अनुवाद में से सुनाता हूँ—

गौ कृष्ण के मुख कढ्यो वह वेनु-गान—
पीयूष-पान करतीं जु उठाय कान।
त्यों वत्स हू पय भरे स्तन-ग्रास-छाँड़े
ठाड़े रहैं सु प्रभु को हिय राखि गाढ़े॥

× × ×

वंशी-ध्वनि सुनि नदी गति होत भग्ना
आवर्त-सूचित-मनोभव में निमग्ना।
लै के तरंग भुज सों कमलोपहारु
गाढ़े गहैं सु हरि के पद-पद्म-चारु॥

× × ×

गौ-गोप-साथ रसरी धरि कै सु काँधै
वंशी बजात जब ही सुर सप्त साधै।
रोमांग वृक्ष रु रहें चल जीव ठाड़े
हा! चित्र!! चेतन अचेतन भाव छाँड़े॥

× × ×

दूर ते हि मृग-गौ-गन सारे, वेणु-नाद-हृत-चित्त विचारे।
दाँत-ग्रास-धरि कान लगावें, नैन मूँदि सम-चित्र लखावें॥

चतुर-गोप शिशु खेलन माँही, वेणु-वाद-नव-रीति महाही।
जबै अरी यसुदा! तव ताता, ओष्ठ बिम्ब धरि वेणु बजाता॥

× × ×

तबहिं सो सुनि सबैं सुरवृंदा, ब्रह्म-इंद्र-शिव-पाय अनंदा।
नमित-ग्रीव चित-ध्यान लगावें, रागभेद नहिं जानि लजावें॥

× × ×

करत हासऽरु कटाक्ष विलासा, हा! तबै हम बँधे स्मर-पासा
तरु-समान गति होय हमारी, भूलि जाँहि कबरी अरु सारी॥

× × ×

पति सुतादि को छाँड़ि कुलगली, तव समीप हा! आ गईं छली!
सरस गीत सों मोहि जो गईं तियन रैन में को तजै? दईं!

ऐसे बड़े उस्ताद के वंशधरों की क्या, जातिभाइयों को भी क्या, एक देशवासियों तक को गाने-बजाने से प्रीति न होनी चाहिए। हाँ, यदि कोई मेरा युवा मित्र यह कह उठे कि वह तो कवियों की कल्पना है, सच्ची बात थोड़ी है; तो मैं चुपके से उसके कान में कहूँगा कि संस्कृत की एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार एक ही मुर्गी का एक हिस्सा पकाने के और दूसरा हिस्सा अंडा देने के काम में नहीं आ सकता। मैं मानता हूँ कि यह कवियों की रचना है; परंतु तुम्हारी वंशावली का कृष्ण से मिलना भी क्या कवियों की रचना नहीं है?

अब मर्यादापुरुषोत्तम राजा रामचंद्र के दोनों पुत्रों की ओर आइए। उनके नाम कुश और लव थे। ये कुछ निराले से

नाम हैं; पहले के और पीछे के राजाओं में बहुत ही कम (शायद नहीं भी) मिलते हैं। दोनों जोड़ले भाई थे। वाल्मीकि ने इनके सब संस्कार साथ ही किये थे। शब्द-ब्रह्म का नया श्लोकमय विवर्त वाल्मीकीय रामायण इन्होंने साथ ही साथ पढ़ा। उसे गा-गाकर लोकापवाद-भीरु रामचंद्र की निकाली हुई सीता के वियोग-दुःख को वे कुछ कुछ कम करते थे और उनका लोकोत्तर गान सुनकर रामचंद्र ने जब उनसे पूछा कि 'गेये को नु विनेता वां ?' (तुम्हें गाना किसने सिखाया) तो उन्होंने वाल्मीकि का नाम लिया और पीछे राम ने उन्हें पहचानकर स्वीकार किया। बड़ी रोचक और करुण रस की कथा है। उन दोनों का नाम समास करके 'कुशलवौ' ऐसा भी आता है और कई जगह वाल्मीकीय रामायण में 'कुशीलवौ' भी आता है, जैसे—

अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ।

(रामायण उत्तरकांड)

कुश और लव का समास करने पर बीच में ई का आ घुसना नई बात होने पर भी संस्कृत व्याकरण के जाननेवालों के लिये नई नहीं है। क्योंकि वहाँ बालक का नाम तो हरिचंद्र होता है, एक खास राजर्षि का नाम उन्हीं शब्दों से बन-कर हरिश्चंद्र हो जाता है; दुनिया का दोस्त इस अर्थ में विश्व + मित्र बनता है और उसी में एक खास ऋषि का नाम होने से 'आ' आ जाता है और वह शब्द विश्वामित्र हो

जाता है। आज कल किसी पार करनेवाले का नाम 'पारकर' होगा, परंतु एक ऋषि का उसी अर्थ का नाम पारस्कर है। व्याकरण को भाषा की उन्नति के अधीन माननेवाले लोग कहेंगे ये पुराने शब्द हैं, व्याकरणों के बनने के पहले भाषा के चालू सिक्कों में आ चुके थे, और पीछे वैयाकरणों ने अपनी बुद्धि के अनुसार जिन शब्दों को न बना पाया उन्हें निपातन करके अलग छाँट दिया। ठीक है, मेरा उनसे कोई झगड़ा नहीं। वे यह मानेंगे कि आज कल यदि दो जोड़ले भाई या सदा साथ रहनेवाले दो जनों के नाम कुश और लव हों तो उन्हें 'कुशलवौ' कहा जायगा; परंतु उन दिनों भाइयों को 'कुशीलवौ' नहीं कहेंगे, वह केवल वाल्मीकि के शिष्य और मैथिली के कुमारों पर रूढ़ है।

अच्छा, जरा देखिए तो संस्कृत में कुशीलव का क्या अर्थ है? इसका अर्थ गाने-बजाने में कुशल, कीर्त्तिसचारक, नट वा चारण, गायक मिलता है। इन दोनों भाइयों के अर्थ में भी कुशीलव पद पाया जाता है। कुशीलवों की विद्या के चलानेवाले वाल्मीकि मुनि का भी यह शब्द वाचक है। और इन अर्थों के वाचक कुशीलव शब्द की व्युत्पत्ति कोशकार यह करते हैं कि "कुत्सितं शीलं अस्त्यर्थे व; कुशीलं वाति वा" कु = खोटा, शील = चरित्र, व = है, वा जो खोटे चरित्र को लिए फिरते हैं। इस बचपन की व्युत्पत्ति को मैं बेसमझी का टक्कर मारना कहता हूँ। यह उसी पंजाबी कहावत का नमूना है कि—

उणादि का प्रत्यय आया डुलक, डियाँ डोलाना,
मा धातु से सिद्ध हुआ मुलक, मियाँ मौलाना !!

वाल्मीकि रामायण के पहले किसी ग्रन्थ में गवैयों के अर्थ में कुशीलव शब्द नहीं मिलता। अतएव मेरा सिद्धान्त यह है कि ये दोनों भाई कुशीलव इतने बढ़िया गवैये थे कि उनके पीछे गवैयों भर का नाम कुशीलव हो गया।

भाषा-विज्ञान के खोजी जानते हैं कि विशेष संज्ञानामों से साधारण गुणनाम बन जाते हैं। एक कादंबरी उपन्यास के पीछे मराठी भाषा में उपन्यास मात्र का साधारण नाम कादंबरी हो गया है। एक भागीरथ के हिमालय पर्वत से समुद्र तक गंगा नदी को लाने के परिश्रम को देखकर बड़े हिम्मत के कामों में 'भगीरथ प्रयत्न' कहने लग गए हैं। हिन्दी में एक प्रसिद्ध अंधा सूरदास नामक हो गया है जिसके पीछे अंधे सभी सूरदास जी कहलाते हैं। एक जसवंतराव होलकर काने के पीछे सभी काने जसवंतराव हो गए हैं। 'नव्वाबी', 'सिखाशाही' आदि शब्द भी एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली के वाचक होकर वैसे गुणों-वाली सभी प्रणालियों के लिये लाये जाते हैं। आजकल भी एक पायोनियर अखबार की प्रसिद्धि से लोगों ने पायनियर को अखबार मात्र का सर्वनाम बना लिया है, जैसे "आपके हाथ में कौन सा पायनियर है ?" ढोला नाम का एक ऐसा प्रेमिक हो गया है जिसे अपनी प्रेयसी से वियोग क्षण भर भी इष्ट न था; इसलिये अब राजपूताना में प्रेमी मात्र को ढोला कहने लग-

गए हैं और चकवा-चकवी की तरह साथ रहनेवाले प्रेमियों को ढोला-मारू। पीछे वैयाकरणों ने इस प्रेममय शब्द को प्राकृत के दुल्लहो और संस्कृत दुर्लभ और हिन्दी दूलह से मिलाकर अपना काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि 'ढोला राय' को 'दुर्लभराय' का विकृत रूप मानना पड़ेगा, परन्तु अत्यासक्त प्रेमी का अर्थ न दुर्लभ में है न दूलह में; ढोला में जो वह आया है वह उस विशेष व्यक्ति के गुणों का जातिमात्र में आरोप होने से हुआ।

ऐसे उदाहरण पचासों दिए जा सकते हैं। भाषाविज्ञान के आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है। किसी वस्तु का नाम 'हरा' था और उसका यह डित्थ कपित्थ की तरह अनर्थक नाम था। उसमें हरा (हरित) गुण भी था। अब लोगों को जो चीज हरी दिखाई पड़ती उसे वे सादृश्य के कारण "हरा! हरा!!" चिल्लाने लगे। होते होते हरित गुण की वस्तु मात्र का साधारण नाम हरा हो गया जो एक विशेष अनर्थक नाम से निकल कर गुणवाचक हो गया।

यही 'कुशीलव' के साथ हुआ होगा। अयोध्यावासियों के इतिहास में अपने राजा की खोई हुई रानी और पुत्रों का मिलना बड़ी भारी हलचल पैदा करनेवाली घटना हुई होगी। राम ने "लोक एव जानाति किमपि" कहकर सारा पुण्य-पाप का भार प्रजा पर रख दिया था। राम के छोटे भाई अपने अग्रज की निःसंतानता पर दुःखी थे जैसा भवभूति ने चंद्रकेतु और सुमंत्र

के मुँह से कहलाया है।* प्रजा भी अपने भविष्यशून्य सिंहासन को देखकर दुःखी थी। इसी अवसर में नाटक के समान घटना से दो गानेवाले जोड़ले भाई, जो 'कुशीलव' कहलाते थे, रंगमंच पर आते हैं और रामचंद्र और अयोध्यावासी उन्हें अपना मान लेते हैं। इस समय कुशीलव का और कोई अर्थ नहीं है, यह उन दोनों भाइयों का जुड़ा हुआ नाम है। अब हाट-बाट में, घर घर में, कुशीलवों की चर्चा फैल गई। "देखो, ये कुशीलव कितना अच्छा गाते हैं कि सुनते-सुनते हमारे राजा को अश्रु आ गए! क्यों भई, पहले भी कभी ऐसे कुशीलव सुने गए थे? अपनी अयोध्या में ऐसे कितने कुशीलव हैं? जी, अयोध्या की गिनती क्या, आर्यावर्त में इन जैसे कुशीलव नहीं हैं।" वाल्मीकि को आता देखकर लोग अँगुली उठा उठाकर कहने लगते हों, 'देखो यह कुशीलवों का गुरु आया! क्या यह और भी कुशीलव तैयार कर रहा है?' शायद नायिकाओं ने अपने विदग्ध नायकों से कहा हो कि 'हमें रिझाना हो तो कुशीलव बनकर आओ।' और किसी पिता ने जब देखा हो कि बेटा दूकान को न सम्हालकर दिन भर ताना रीरी में लगा

---

* अप्रतिष्ठे रघुज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः।
इति दुःखेन पीड्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे।
मनोरथस्य यद्बीजं तद्दैवेनादितो हतम्।
लतायाः पूर्वलूनाया प्रसूनस्यागमः कुतः!

रहता है तो उसने उसे सिर धुनता हुआ देखकर झिड़ककर कहा हो "कुशीलवों की दुम बना जाता है! तेरे जैसे जब कुशीलव हो जायँगे तब अयोध्या भर में किसी को नींद नहीं लेने देंगे।"

यों होते होते यदृच्छा शब्द कुशीलव का अर्थ गवैया बजवैया मात्र हो गया। जैसे बुड्ढे वशिष्ठ के कारण हर एक आदरणीय वृद्ध को वशिष्ठ कहते हैं (खालक बारी का बमीठ=पैगंबर) वैसे उन सुचतुर गवैयों के कारण सभी गाने बजानेवाले कुशीलव कहलाने लगे। पीछे कई सौ वर्षों बाद जब इस शब्द की असली उत्पत्ति को लोग भूल गए थे, किसी अक्षरकीट पंडित ने अपने समय की गवैयों की घृणा को देखकर कुत्सितं शीलं वाली भानमती के कुनबे की सी व्युत्पत्ति गढ़ दी। वंश दो तरह चलता है, विद्या से और जन्म से, तो क्यों कुशीलवों के जन्मवंशज अपने वंशकर्ताओं की विद्या से घृणा करते हैं?*

---

* एक और विनोद की बात है; संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार गोत्र के सब व्यक्तियों का नाम गोत्रकार के नाम से चलता है। कुशिक के वंश के लोग कुशिकाः कहलाएँगे ('एष वः कुशिका वीरो'-ऐतरेय ब्राह्मण) और भरत के वंश के सब लोग भरताः ('एष वो राजा भरताः--कृष्ण यजु०)। इस प्रकार से चंद्रवंशी दुष्यंत के पुत्र शकुंतला-गर्भज भरत के वंश के लोग भरताः कहलाएँगे और कुशीलवों के वंश के कुशीलवाः। और संस्कृत-साहित्य में 'भरताः' और 'कुशीलवाः' यह नाचने गाने बजाने में चतुर लोगों का नाम है !!!

यदि यह कहा जाय कि गवैयों का नाम कुशीलव रामचंद्र के पुत्र लव और कुश से पुराना है तो प्रमाण न होने पर भी इसमें इष्टापत्ति है। तो यों हुआ होगा कि दो चतुर बालक कुशीलव (=गवैए) अयोध्या में आए और पहचान होने पर राजपुत्र मान लिए गए। उनका नाम किसी को नहीं मालूम था। 'कुशीलवों को राजा ने अपना पुत्र पहचान लिया'—'अब कुशीलव हमारे राजा बनेंगे'—इस प्रकार की बातें अयोध्या में होते होते लोग उन्हें कुशीलव ही कहने लग गए। जैसे बड़े पहलवान या पंडित का नाम कोई नहीं जानता या लेता वरन् उन्हें पहलवान-जी या पंडितजी कहता है वैसे ये दोनों भाई कुशीलव ही कहे गए। पीछे उसी नाम को फाड़कर उनके नाम लोगों ने कुश और लव रख लिए। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि ये निराले से नाम हैं और संस्कृत साहित्य में शायद और कहीं पाए नहीं जाते। और इनके निरालपन ही को देखकर और कुशीलव से इनका निकलना न सोचकर कई सौ वर्षों पीछे (और उस समय गानविद्या और उसके प्रचारकों से गर्हा उत्पन्न हो गई हो) यह द्रविड़ प्राणायाम से बादरायण संबंध निकाला गया कि वाल्मीकि ने उनके गर्भक्लेशों को कुश और लव (=गोपुच्छ) से मिटाया था इससे उनके नाम कुश और लव रखे गए। जिस एक गर्भ में जोड़ले भाई हैं उसके क्लेश मिटाने के लिए न्यारे न्यारे उपकरण कैसे लिए गए यह जैसे विचारणीय है वैसे यह अप्रमाण कथा भी विचारणीय है कि एक

दिन लव को खोकर सीता व्याकुल हो रही थी तो मुनि ने कुश पर छींटा मारकर एक दूसरा बालक बना दिया! इससे एक पुत्र-वाली सीता के दो पुत्र हो गए !! और यह बात ही न्यारी है कि ज्येष्ठ कुश उस कथा में कनिष्ठ हो जाता है !!!

चाहे जो हो, चाहे उन दो राजकुमारों के पीछे गवैए कुशीलव कहलाए हों और चाहे गवैया होने के कारण वे दोनों कुशीलव कहलाए हों—इसमें संदेह नहीं कि वे शब्दब्रह्म के नए विवर्त आदिकाव्य रामायण के चतुर गानेवाले थे। उनके गानवेत्ता होने में कोई संदेह नहीं। यदि रामचंद्र की ऐतिहासिकता में किसी को संदेह हो तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि रामचरित आदिकवि की कल्पना है। यह बात भी हमारे काम की है, क्योंकि पुराने—अति पुराने—समय के कवि की दृष्टि में ऐसे चक्रवर्ती राजा के पुत्र और भविष्य चक्रवर्तियों को गानवेत्ता कहने में कोई संकोच न जान पड़ा या लज्जा नहीं आई। उस समय के पाठक भी चक्रवर्त्ती के लड़कों को गाता हुआ देखकर "अब्रह्मण्यं, अब्रह्मण्य" नहीं पुकारते होंगे।

यह माना कि आजकल संगीत नीच संग से कुरुचिकारक हो गया है, पर कुसंग से कौन चीज नहीं बिगड़ जाती? और उत्तम विद्या को नीच से, स्वर्ण को अपवित्र जगह से, अमृत को विष से, स्त्रीरत्न को दुष्कुल से लेने के विषय में भी तो नीति का एक श्लोक है न?

(१४) देवकुल

हर्षचरित के आरंभ में महाकवि बाण ने भास के विषय में यह श्लोक लिखा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का आरंभ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में भी नांदी रंग-मंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है। नाटक का आरंभ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः,' नांदी के पीछे सूत्रधार ही आकर करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएँ (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएँ (पार्ट) हैं। मंदिरों पर पताकाएँ (ध्वजाएँ) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती हैं। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था। किंतु आधुनिक ऐतिहासिक खोज में यह एक बात और निकली कि भास ने 'देवकुल' से ही यश पाया।

महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री के अध्यवसाय से ट्रावंकोर में भास के कई नाटक उपलब्ध हुए हैं। वे त्रिवेंद्रम संस्कृत ग्रंथमाला में छपे हैं। उनमें एक प्रतिमानाटक भी है। इसका नाम ही प्रतिमा यों रखा गया है कि कथानक का विकास

प्रतिमाओं से होता है। नाटक रामचरित के बारे में है। भरत ननिहाल केकय देश में गया है। शत्रुघ्न साथ नहीं गया है, इधर अयोध्या में ही है। भरत को वर्षों से अयोध्या का परिचय नहीं। पीछे कैकेयी ने वर माँगे, राम वन चले गए; दशरथ ने प्राण दे दिए। मंत्रियों के बुलाने पर भरत अयोध्या को लौटा आ रहा है। इधर अयोध्या के बाहर एक दशरथ का प्रतिमागृह, देवकुल, बना हुआ है। इतना ऊँचा है कि महलों में भी इतनी ऊँचाई नहीं पाई जाती *। यहाँ राम-वनवास के शोक से स्वर्गगत दशरथ की नई स्थापित प्रतिमा को देखने के लिये रानियाँ अभी आनेवाली हैं। आर्य संभव की आज्ञा से वहाँ पर एक सुधाकर (सफेदी करनेवाला) सफाई कर रहा है। कबूतरों के घोंसले और बीट, जो तब से अब तक मंदिरों को सिंगारते आए हैं, गर्भ-गृह (जगमोहन) में से हटा दिए गए हैं। दीवालों पर सफेदी और चंदन के हाथों के छापे (पंचांगुल) दे दिए गए हैं †। दरवाजों पर मालाएँ चढ़ा दी गई हैं। नई रेत बिछा दी गई

* इदं गृहं तत्प्रतिमा नृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः।

† आजकल भी चंदन के पूरे पंजे के चिह्न मांगलिक माने जाते हैं और त्योहारों तथा उत्सवों पर दरवाजों और दीवारों पर लगाए जाते हैं। जब सतियाँ सहमरण के लिये निकलती थीं तब अपने किले के द्वार पर अपने हाथ का छापा लगा जाया करती थीं। वह छापा खोद-कर पत्थर पर उसका चिह्न बनाया जाता था। बीकानेर के किले के

है। तो भी सुधाकर काम से निबटकर सो जाने के कारण सिपाही के हाथ से पिट जाता है। अस्तु। भरत अयोध्या के पास आ पहुँचा। उसे पिता की मृत्यु, माता के षडयंत्र और भाई के वनवास का पता नहीं। एक सिपाही ने सामने आकर कहा कि अभी कृत्तिका एक घड़ी बाकी है, रोहिणी में पुरप्रवेश कीजिएगा। ऐसी उपाध्यायों की आज्ञा है। भरत ने घोड़े खुलवा दिए और वृक्षों में दिखाई देते हुए देवकुल में विश्राम के लिये प्रवेश किया। वहाँ की सजावट देखकर भरत सोचता है कि किसी विशेष पर्व के कारण यह आयोजन किया गया है या प्रतिदिन की आस्तिकता है? यह किस देवता का मंदिर है? कोई आयुध, ध्वज या घंटा आदि बाहरी चिह्न तो नहीं दिखाई देता। भीतर जाकर प्रतिमाओं के शिल्प की उत्कृष्टता देखकर भरत चकित हो जाता है। वाह, पत्थरों में कैसा क्रिया-माधुर्य है। आकृतियों में कैसे भाव झलकाए गए हैं! प्रतिमाएँ बनाई तो देवताओं के लिये हैं, किंतु मनुष्य को धोखा देती हैं। क्या यह कोई चार देवताओं का संघ है*? यों सोचकर भरत

द्वार पर ऐसे कई हस्तचिह्न हैं। मुगल बादशाहों के परवानों और खास रुक्कों पर बादशाह के हाथ का पंजा होता था जो अँगूठे के निशान की तरह स्वीकार का बोधक था।

* अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतीनाम्। दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम्। किन्नु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः?

प्रणाम करना चाहता है, किंतु सोचता है, कि देवता हैं, चाहे जो हों, सिर झुकाना तो उचित है किंतु बिना मंत्र और पूजाविधि के प्रणाम करना शूद्रों का सा प्रणाम होगा। इतने ही में देवकुलिक (पुजारी) चौंककर आता है कि मैं नित्यकर्म से निबटकर प्राणि-धर्म कर रहा था कि इतने में यह कौन घुस आया कि जिसमें और प्रतिमाओं में बहुत कम अंतर है? वह भरत को प्रणाम करने से रोकता है। इस देवकुल में आने जाने की रुकावट न थी, न कोई पहरा था। पथिक बिना प्रणाम किए ही यहाँ सिर झुका जाते थे*। भरत चौंककर पूछता है कि क्या मुझसे कुछ कहना है? या किसी अपने से बड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो, जिससे मुझे रोकते हो? या नियम से परवश हो? मुझे क्यों कर्तव्य-धर्म से रोकते हो? वह उत्तर देता है कि आप शायद ब्राह्मण हैं, इन्हें देवता जान कर प्रणाम मत कर बैठना, ये क्षत्रिय हैं, इक्ष्वाकु हैं। भरत के पूछने पर पुजारी परिचय देने लगता है और भरत प्रणाम करता जाता है। यह विश्वजित् यज्ञ का करनेवाला दिलीप है जिसने धर्म का दीपक जलाया था†।

---

* अयं त्वनैरप्रतिहारकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते।

† विश्वजित यज्ञ का विशेषण 'सन्निहितसर्वरत्न' दिया है। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि जहाँ ऋत्विजों को दक्षिणा देने के लिये सब रत्न उपस्थित थे (कालिदास का 'सर्वस्वदक्षिणम्')। दूसरा अर्थ यह भी है कि राजा के रत्न—प्रजा प्रतिनिधि—सब वहाँ उपस्थित

यह रघु है, जिसके उठते-बैठते हजारों ब्राह्मण पुण्याह शब्द से दिशाओं को गुंजा देते थे। यह अज है जिसने प्रियावियोग से राज्य छोड़ दिया था और जिसके रजोगुणोद्भव दोष नित्य अवभृथ स्नान से शांत होते थे। अब भरत का माथा ठनका। इस ढंग से चौथी प्रतिमा उसी के पिता की होनी चाहिए। निश्चय के लिये वह फिर तीनों प्रतिमाओं के नाम पूछता है। वही उत्तर मिलता है। देवकुलिक से कहता है कि क्या जीते हुओं की भी प्रतिमा बनाई जाती है? वह उत्तर देता है कि नहीं, केवल मरे हुए राजाओं की। भरत सत्य को जानकर अपने हृदय की वेदना छिपाने के लिये देवकुलिक से बिदा होकर बाहर जाने लगता है, किंतु वह रोककर पूछता है कि जिसने स्त्री-शुल्क के लिये प्राण और राज्य छोड़ दिए उस दशरथ की प्रतिमा का हाल तू क्यों नहीं पूछता? भरत को मूर्च्छा आ जाती है। देवकुलिक उसका परिचय पाकर सारी कथा कहता है। भरत फिर मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इतने में रानियाँ आ जाती हैं। हटो बचो की आवाज होती है। सुमंत्र किसी अनजाने बटोही को वहाँ पड़ा समझकर रानियों को भीतर जाने से रोकता है। देवकुलिक कहता

थे, अर्थात् सारी प्रजा की प्रतिनिधिलब्ध सहानुभूति से यज्ञ हुआ था। राजसूय प्रकरण में उन प्रजा के प्रधान रत्नों का उल्लेख है, जिनके यहाँ राजा जाकर यज्ञ करता और तुहफे देता। यह राजसूय का पूर्वांग है।

है कि बेखटके चली आओ, यह तो भरत है*। प्रतिमाएँ इतनी अच्छी बनी हुई थीं कि भरत की आवाज सुनकर सुमंत्र के मुँह से निकल जाता है कि मानों महाराज (दशरथ) ही प्रतिमा में से बोल रहे हैं। और उसे मूर्च्छित पड़ा हुआ देखकर सुमंत्र वयःस्थ पार्थिव (जवानी के दिनों का दशरथ) समझता है। आगे भरत, सुमंत्र और विधवा रानियों की बातचीत होती है। बड़ा ही अद्भुत तथा करुण दृश्य है।

इसमें पता चलता है कि भास के समय में देवमंदिरों (देवकुलों) के अतिरिक्त राजाओं के देवकुल भी होते थे जहाँ मरे हुए राजाओं की जीवित-सदृश प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। एक वंश या राजकुल का एक ही देवकुल होता था जहाँ राजाओं की मूर्तियाँ पीढ़ीवार रखी होती थीं। ये देवकुल नगर के बाहर वृक्षों से घिरे हुए होते थे। देवमंदिरों से विपरीत इनमें झंडे, आयुध, ध्वजाएँ या कोई बाहरी चिह्न न होता था, न दरवाजे पर रुकावट या पहरा होता था। आनेवाले बिना प्रणाम किए इन प्रतिमाओं की ओर

---

* भास के समय में पर्दा कुछ था, आजकल के राजपूतों का सा नहीं। प्रतिमानाटक में जब सीता राम के साथ वन को चलती हैं तब लक्ष्मण तो रीति के अनुसार हटाओ, हटाओ की आवाज लगाता है; किंतु राम उसे रोककर सीता को घूँघट अलग करने की आज्ञा देता है और पुरवासियों को सुनाता है—

सर्वे हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च॥

आदर दिखाते थे। कभी कभी वहाँ सफाई और सजावट होती थी तथा एक देवकुलिक रहता था। देवकुलिक के वर्णन से संदेह होता है कि प्रतिमाओं पर लेख नहीं होते थे, किंतु लेख होने पर भी पुजारी और मुजाविर वर्णन करते ही हैं। अथवा कवि ने राजाओं के नाम और यश कहलवाने का यही उपाय सोचा हो।

भास के इक्ष्वाकुवंश के देवकुल के वर्णन में एक शंका होती है। क्या चारों प्रतिमाएँ दशरथ के मरने पर बनाई गई थीं, या दशरथ के पहले के राजाओं की प्रतिमाएँ वहाँ यथासमय विद्यमान थीं, दशरथ की ही नई पधराई गई थी? चाहिए तो ऐसा कि तीन प्रतिमाएँ पहले थीं, दशरथ की अभी बनाकर रखी गई थी, किंतु सुमंत्र के यह कहने से कि 'इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः' और भट के इस कथन से कि 'भट्टणो दसरहस्स पडिमागेहं देट्ठुं' यह धोखा होता है कि प्रतिमागृह दशरथ ही के लिये बनवाया गया था, और प्रतिमाएँ वहाँ उसके अनुषंग से रखी गई थीं। माना कि भरत बहुत समय से केकय देश में था, वह अपनी अनुपस्थिति में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर अचरज करता किंतु वह तो इक्ष्वाकुओं के देवकुल, उसकी तीन प्रतिमा, उसके स्थान, चिह्न और उपचार व्यवहार तक से अपरिचित था। क्या उसने कभी इस इक्ष्वाकु-कुल के समाधि मंदिर के दर्शन नहीं किए थे, या इसका होना ही उसे विदित न था? बातचीत से वह इस मंदिर से अनभिज्ञ, उसकी रीतियों से अनजान, दिखाई पड़ता है। सारा दृश्य ही उसके लिये नया है। क्या ही अच्छा संविधानक होता यदि

परिचित देवकुल में भरत अपने 'पितुः प्रपितामहान्' का दर्शन करने जाता, वहाँ पर चिरदृष्ट तीन की जगह चार प्रतिमाओं को देखकर अपनी अनुपस्थिति की घटनाओं को जान लेता। इसका समाधान यह हो सकता है कि भास का भरत बहुत ही छोटी अवस्था में अयोध्या से चला गया हो और वहाँ के दर्शनीय स्थानों से अपरिचित हो। या कोई ऐसा संप्रदाय होगा कि पिता के जीते जी राजकुमार देवकुल में नहीं जाया करते हों। राजपूताने में अब भी कई जीवत्पितृक मनुष्य श्मशान में अथवा शोक सहानुभूति (मातमपुर्सी) में नहीं जाते। राजवंश के लोग नई प्रतिमा के आने पर ही देवकुल में आवें ऐसी कोई रूढ़ि भी हो सकती है। अस्तु।

भास का समय अभी निश्चित नहीं हुआ। पंडित गणपति शास्त्री उसे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी का, अर्थात् कौटिल्य चाणक्य से पहले का, मानते हैं*। जायसवाल महाशय उसे ईसवी

* पंडित गणपति शास्त्री ने पाणिनि-विरुद्ध बहुत से प्रयोगों को देखकर भास को पाणिनि के पहले का भी माना था। कौटिल्य से पहले का मानने में मान एक श्लोक है जो 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' नाटक तथा 'अर्थशास्त्र' दोनों में है। अर्थशास्त्र में भास के नाटक से उसे उद्धृत मानने के लिये उतना ही प्रमाण है जितना भास के नाटक में उसके अर्थशास्त्र से उद्धृत होने का। दूसरा मान प्रतिमानाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का उल्लेख है, कौटिल्य का नहीं। किंतु यह कवि की अपने पात्रों की प्राचीनता दिखाने की कुशलता हो सकती है। मैंने

इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द ४२, सन् १९१३, पृष्ठ ५२) में दिखाया था कि पृथ्वीराज विजय के कर्त्ता जयानक और उसके टीकाकार जोनराज के समय तक यह साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्यविषयक स्पर्द्धा की परीक्षा के लिये भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ साथ अग्नि में डाला गया तो अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझकर नहीं जलाया। पंडित गणपति शास्त्री ने बिना मेरा नाम उल्लेख किए पृथ्वीराजविजय तथा उसकी टीका के अवतरण के भाव को यों कहकर उड़ाना चाहा है कि 'विष्णु धर्मान्' कर्म का बहुवचन काव्य का नाम नहीं, किंतु 'विष्णुधर्मात्' हेतु की पंचमी का एकवचन है कि अग्नि मध्यस्थ था, परीक्षक था, विष्णु के स्थानापन्न था, उसने विष्णुधर्म से भास के काव्य को नहीं जलाया! विष्णु को यहाँ घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी? मैं अब भी मानता हूँ कि भासकृत विष्णुधर्म नामक ग्रन्थ व्यास (?) कृत विष्णुधर्मोत्तर पुराण के जोड़ का हो सकता है तथा भास-व्यास की समकालिकता का प्रवाद अधिक विचार चाहता है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने आरंभ ही में 'जय' शब्द का अर्थ करते हुए पुराणों से 'विष्णुधर्मा:' को अलग ग्रंथ गिना है। यहाँ भी बहुवचन प्रयोग ध्यान देने योग्य है। नीलकंठ के श्लोक ये हैं —

> अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितं तथा।
> कार्ष्णं वेदं पंचमं च यन्महाभारतं विदुः।
> तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः।
> जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः॥

पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं। प्रतिमानाटक में भास यह देवकुल का प्लाट कहाँ से लाया ? सुबंधु ने वासवदत्ता में पाटलि-पुत्र को अदिति के पेट की तरह 'अनेक देवकुलों से पूरित' लिखा है*। यहाँ देवकुल में देवताओं के परिवार और देवमंदिर का श्लेष है। क्या यह संभव है कि भास ने पाटलिपुत्र का शैशुनाक देवकुल देखा हो और वहाँ की सजीवसदृश प्रतिमाओं से प्रतिमा-नाटक का नाम तथा कथावस्तु चुना हो ? इक्ष्वाकुओं के देवकुल के चतुर्दैवत स्तोम† की ओर लक्ष्य दीजिए। पाटलिपुत्र के स्थापन

---

* अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यासितम् ।

† यह ध्यान देने की बात है कि इक्ष्वाकु-कुल में दिलीप, रघु, अज और दशरथ--ये चार नाम लगातार या तो भास में मिले हैं या कालिदास के रघुवंश में। दशरथ को अज का पुत्र तो वायु, विष्णु और भागवत पुराण तथा रामायण, सब मानते हैं। कुमारदास के जानकोहरण और अश्वघोष के बुद्धचरित में भी ऐसा है। वायुपुराण की वंशावली में दिलीप और रघु के बीच में एक राजा और है, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। भागवत में दिलीप और रघु के बीच में १५ राजाओं और रघु और अज के बीच में पृथुश्रवा का नाम है। विष्णु-पुराण में दिलीप और रघु के बीच में १७ नाम हैं, फिर रघु, अज, दशरथ हैं। वाल्मीकि रामायण में दिलीप और रघु के बीच में दो पुरुष हैं, रघु और अज के बीच में १२ नाम हैं। भास और कालिदास दोनों किसी और नाराशंसी या पौराणिक गाथा पर चले हैं। चमत्कार यह है कि दोनों महाकवि एक ही वंशावली को मानते हैं।

से नवनंदों द्वारा शैशुनाकों का उच्छेद होने तक पाँच शैशुनाक राजा हुए। उनमें से अंतिम राजा को तो राज्यापहारी नंद (महापद्म) ने काहे को प्रतिमा खड़ी की होगी। अतएव शैशुनाक देवकुल में भी चार ही प्रतिमाएँ होंगी। इस चतुर्दैवत स्तोम में से अज, उदयिन् तथा नंदिवर्धन की प्रतिमाएँ तो इंडियन म्यूजियम में हैं। तीसरी को हार्किंस ले गया। चौथी अगम कुएँ के पास पुजती हुई कनिंगहम ने देखी थी। संभव है कि इनका भी पता चल जाय।

परखम की मूर्ति भी संभव है कि राजगृह के शैशुनाकों के राजकुल की हो। यह हो सकता है कि वह किसी बड़ी भारी विजय या अवदान के * स्मरण में परखम में ही खड़ी की गई

* लोकोत्तर सात्त्विक दान को अवदान कहते हैं। बुद्ध के अवदान प्रसिद्ध हैं। अवदान का संस्कृत रूप अपदान है। काश्मीरी कवि इसका प्रयोग करते हैं। आबू में प्रसिद्ध वस्तुपाल तेजपाल के मंदिर के सामने दोनों भाइयों तथा उनकी स्त्रियों की प्रतिमाएँ हैं। विमल-शाह के मंदिर में भी स्थापक की प्रतिमा है। राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में राजपूतदंपति की मूर्तियाँ हैं जो उनके संस्थापित मंदिर के द्वार पर थीं। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने वैद्यनाथ का मंदिर बनाया और वहाँ पर अपने पिता (अर्णोराज) की घोड़े-चढ़ी मूर्ति रीति धातु की बनवाई। इससे आगे का श्लोक नष्ट हो गया है किंतु टीका से उसका अर्थ जाना जाता है कि पिता के सामने उसने अपनी मूर्ति भी उसी धातु की बनवाई थी (दत्ते हरि-

हो। किंतु यह भी असंभव नहीं कि वह राजगृह से वहाँ पहुँची हो। मूर्तियों के बहुत दूर दूर तक चले जाने के प्रमाण मिले हैं। जीतकर मूर्तियों का ले आना विजय की प्रशस्तियों में बड़े गौरव से उल्लिखित किया गया मिलता है। दिल्ली तथा प्रयाग के अशोक-स्तंभ भी जहाँ आजकल हैं, वहाँ पहले न थे। बड़े परिश्रम से तथा युक्तियों से उठवाकर पहुँचाए गए हैं।

नानाघाट की गुफा में पहले सतवाहनवंशी राजाओं की कई पीढ़ियों की मूर्तियाँ हैं। वह सातवाहनों का देवकुल है। मथुरा के पास शक (कुशन) वंशी राजाओं के देवकुल का पता चला है। कनिष्क की मूर्ति खड़ी और बहुत बड़ी है। उसके पिता वेम कैडफेसस की प्रतिमा बैठी हुई है। इस पर के लेख में 'देव-कुल' शब्द इसी रूढ़ अर्थ में आया है। इस राजा को लेख में कुशन-पुत्र कहा है। वहीं पर एक और प्रतिमा के खंड मिले हैं। वह कनिष्क के पुत्र की होगी। तीसरी मूर्ति पर के लेख को फोजल ने मस्टन पढ़ा था, किंतु बाबू विनयतोष भट्टाचार्य ने उसे शस्तन पढ़कर सिद्ध किया है कि यह चश्तन नामक राजा की मूर्ति है। यह टालमी नामक ग्रीक भूगोलवेत्ता का समसामयिक था, क्योंकि

इयेनेव शुद्धरीतिमये हरौ। प्रकृतिं लम्भितस्तत्र शुद्धरीतिमयः पिता ॥ ८। ६६ ॥ पितुः रीतिमयस्य रीतिवाहारूढस्य प्रतिष्ठापितस्याग्रे रीति-मयं स्वात्मानं प्रतिष्ठाप्य राजा स सर्गं त्रिधा रीतिमयं कविरिवाकरोत ॥)। यों वैद्यनाथ का मंदिर चौहानों का देवकुल हुआ।

इसने 'टियांतनोस' की राजधानी उज्जैन का उल्लेख किया है। चश्तन भी शक होना चाहिए, वह कनिष्क का पुत्र हो, या निकट संबंधी हो। अतएव कनिष्क का समय ईसवी सन् ७० से सन् १३० के बीच होना चाहिए, ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी नहीं।

भास के लेख तथा शैशुनाक, सातवाहन और कुशान राजाओं के देवकुलों के मिलने से प्रतीत होता है कि राजवंशों में मृत राजाओं की मूर्तियों को एक देवकुल में रखने की रीति थी।

देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा संबंध है। देवपूजा पितृपूजा से ही चली है। मंदिर के लिये सबसे पुराना नाम चैत्य है, जिसका अर्थ चिता (दाह-स्थान) पर बना हुआ स्मारक है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिलाकर उन पर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था। बुद्ध के शरीर-धातुओं के विभाग तथा उन पर स्थान-स्थान पर स्तूप बनने की कथा प्रसिद्ध ही है। बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिह्न थे, फिर पूज्य हो गए।

देवकुल शब्द का बड़ा इतिहास है। मन्दिर को राजपूताने में देवल कहते हैं, छोटी मढ़ी को देवली कहते हैं। समाधि-स्तंभों को भी देवली, देउली या देवल कहते हैं। शिलालेखों में मन्दिरों को देवकुल कहा है, सतियों तथा वीरों के स्मारक-चिह्नों को भी देवल या देवली कहा है। देवली का संस्कृत देवकुली या देवकुलिका लेखों में मिलता है। पुजारी को 'देवलक' कहते

हैं, लेखों में देवकुलिक मिलता है। सती माता का देवल, सती की देवली यह अब तक यहाँ व्यवहार है। बङ्गाल में ऊँचे शिखर के छोटे मंदिर को देउली कहते हैं। राजपूताने में मन्दिर के अंदर छोटे मंदिर को भी देवली कहते हैं। पंजाबी में वह लकड़ी का सिंहासन, जिसमें गृहस्थों के ठाकुरजी रखे जाते हैं, देहरा कहलाता है। ग्राम तथा नगरों के नाम में देहरा पद भी उनके देवस्थान होने का सूचक है। जैसे प्राकृत देवल का संस्कृत रूप देवकुल लेखों में आता था, वैसे राजाओं की उपाधि रावल का संस्कृत रूप राजकुल मिलता है। राजकुल का अर्थ 'राजवंश' है। मेवाड़ के राजाओं की रावल शाखा प्रसिद्ध है। उनके लेखों में 'महाराजकुल अमुक' ऐसा मिलता है। पंजाबी पहाड़ी में सती के स्मारक चिह्न को देहरी तथा सतियों की समष्टि में 'देहरी' कहते हैं*। यों देवकुल

* सतियों के लिये 'महासती' पद का व्यवहार सारे देश में मिलने से देश की एकता का अद्भुत प्रमाण मिलता है। मेवाड़ के महाराणाओं की सतियों के समाधिस्थान को महासती कहते हैं, जैसे, 'दरबार महासत्यां दरसण करण ने पधार्या है'। मैसूर के पुरातत्त्व-विभाग की रिपोर्ट से जाना जाता है कि वहाँ पर सतीस्तंभ 'महासतीकल' कहे जाते हैं। विपरीतलक्षणा से पंजाबी पहाड़ी में 'महासती' या 'म्हासती' दुराचारिणी स्त्री के लिये गाली का पद हो गया है। पति के लिये सहमरण करनेवाली स्त्रियों को ही सती कहते हैं, किंतु कई देवलियाँ पोतासतियों की भी मिली हैं जो दादियाँ अपने पोते के दुःख से सती हुईं।

पद देवमंदिर का वाचक भी है, तथा मनुष्यों के स्मारक-चिह्न का भी*।

सतियों तथा वीरों की देवलियाँ वहीं पर बनती हैं जहाँ उन्होंने देहत्याग किया हो। साँभर के पास देवयानी के तालाब पर एक घोड़े की देवली है जो लड़ाई में काम आया था †।

रजवाड़ों में राजाओं की छतरियाँ या समाधि-स्मारक बनते हैं। उनमें सुंदर विशाल चारों ओर से खुले मकान बनाए जाते

---

* कोयम्बतुर जिले (मद्रास) में कुछ पुरानी समाधियाँ हैं। वे पांडुकुल कहलाती हैं। यह भी देवकुल का स्मरण है। ऐतिहासिक अंधकार के दिनों में जो पुरानी तथा विशाल चीज दिखाई दी, वही पांडवों के नाम थोप दी जाती थी, कहीं भीमसेन की कुंडी, कहीं पांडवों की रसोई। दिल्ली के पास विष्णुगिरि पर विष्णुपद का चिह्न (बहुत बड़ा चरण) है। उसे कई साहसी लोग भीमसेन के पाँव की नाप मानते ही नहीं, सिद्ध भी करना चाहते हैं। बहुत-से विष्णुपद मिले हैं, सभी इसी हिसाब से भीमसेन के पैर के चिह्न होने चाहिएं।

† लेख के ऊपर कमल और सजे हुए घोड़े की मूर्ति है। नीचे यह लेख है—॥ १ श्रीरामजी (१) राजश्री नवाब मुकतार दौला बहादुरजी के मैं सन् १२२७; (२) सवत् १८६८ मितो वैशाख वदि ७ सोमवार के रोज जो बने; (३) र पै झगरा भयो तामैं पं० श्रीलाला जवाहर सींघजी कौ (४) घोड़ा सुरंग काम आयौ ताकी देवली साँभर मैं श्रीदेउदा (५) नीजी के ऊपर बनाई कारीगर पुश्राजबषस गजधर ने बना; (६) ई॥

हैं। कहीं-कहीं उनमें शिवलिंग स्थापित कर दिया जाता है, कहीं अखंड दीपक जलता है, कहीं चरणपादुका होती हैं, कहीं मूर्ति तथा लेख होते हैं, परंतु कई योंही छोड़ दी जाती हैं। जोधपुर के राजाओं की छतरियाँ शहर से बाहर मंडोर के किले के पास हैं। जयपुर के राजाओं में जितने आमेर में थे, उनके श्मशानों पर उनकी छतरियाँ आमेर में हैं, जो जयपुर बसने के पीछे प्रयात हुए, उनकी गेटोर में शहर के बाहर हैं। महाराजा ईश्वरीसिंहजी का दाहकर्म महलों में ही हुआ था, इसलिए उनकी छतरी महलों के भीतर ही है। डूंगरपुर में वर्त्तमान महारावल के पितामह की छतरी में उनकी प्रतिमा सजीव सदृश है। बीकानेर के पहले दो-तीन राजाओं की छतरियाँ तो शहर के मध्य में लक्ष्मीनारायण के मंदिर के पास हैं, कुछ पुराने राजाओं की छतरियाँ लाल पत्थर के एक छोटे अहाते में हैं, बाकी राजाओं की छतरियाँ एक विशाल दीवाल से घिरे अहाते में क्रम से बनी हुई हैं। प्रत्येक पर चरणपादुका हैं जहाँ प्रतिदिन पूजा होती है। प्रत्येक पर मूर्ति है जिसमें राजा घोड़े पर सवार बनाया हुआ है। जितनी रानियाँ उसके साथ सती हुईं उनकी भी मूर्तियाँ उसी पत्थर पर बनी हुई हैं। शिलालेख प्रत्येक पर है जिसमें विक्रम संवत्, शाक संवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, सूर्योदय घटी आदि प्रयाण के दिन का पूरा पंचांग दिया है। वहीं सहमरण करनेवाली रानियों, दासियों आदि की संख्या लिखी है। किसी में पाचक, पुरोहित, सेवक वा

घोड़े के सहमरण का भी उल्लेख है। पास में देवीकुंड होने से यह स्थान भी देवीकुंड कहलाता है*। यहाँ के पुजारी शाकद्वीपी ब्राह्मण (सेवग, भोजक या मग) हैं। ऐसे ही धर्माचार्यों, ठाकुरों, धनियों आदि के भी समाधि-स्मारक स्थान होते हैं।

इन देवलियों और छतरियों तथा भास-वर्णित इक्ष्वाकुओं के या शैशुनाक और कुशनों के देवकुलों में यह भेद है कि देवली या छतरी सती या राजा के दाह-स्थल पर बनती तथा एक ही की स्मारक होती है; देवकुल श्मशान में नहीं होते थे। उनमें एक ही भवन में एक वंश के कई राजाओं की मूर्तियाँ वंशक्रम के अनुसार रखी जाती थीं। छतरियों के शिल्प और निवेश में मुसलमानी रोजों और मकबरों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है देवकुल की चाल प्राचीन थी।

पंजाब के काँगड़ा जिले के पहाड़ी प्रांत में, जो राजमार्गों से विदूर तथा मुसलमानी विजेताओं तथा प्रभावों से तटस्थ रहा, अब तक देवकुल की रीति चली आती है। वहाँ प्रत्येक ग्राम के पास जलाशय पर मरे हुओं की मूर्तियाँ रखी जाती हैं। मेरे ग्राम गुलेर के देवकुल का वर्णन सुन लीजिए। गुलेर बहुत ही पुराना ग्राम है। कटोचवंश की बड़ी शाखा की राजधानी था

---

* पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने भ्रमवश देवगढ़ लिखा है (बि० उ० रि० सो० ज०, दिसंबर १६१६)

हुआ, छोटा वंश काँगड़े में राज्य करता रहा। श्मशान तो नदी के तीर पर हैं, जहाँ पर कई कुलों की सतियों की 'देहरियाँ' हैं। गाँव के बाहर, श्मशान से पौन मील इधर, बछूहा (वत्स+खूहा=वत्सकूप) नामक जलाशय है जिस पर वत्सेश्वर महादेव हैं। उसके पुजारी रौलु (रावल) नामक ब्राह्मण (?) होते हैं जो मृतक के वस्त्रों के अधिकारी हैं। वत्सकूप तथा महादेव के मंदिर के पूर्व को एक तिबारा-सा है. छत गिर गई है। खंभे और कुछ दीवालें बची हैं। वहाँ पर सैकड़ों प्रतिमाएँ हैं जिन्हें मूहरे (मोहरे) कहते हैं। मृत्यु होने के पीछे ग्यारहवें दिन जब महाब्राह्मणों को शय्यादान करते हैं, उस समय लगभग एक फुट ऊँचे पत्थर पर मृतक की मूर्ति कुराई जाती है। मूर्ति बनानेवाले गाँव के पुश्तैनी पत्थर गढ़नेवाले हैं, जो पनचक्कियों के घरट बनाते हैं। मूर्ति सिंदूर लगाकर शय्या के पास रख दी जाती है। दान के पीछे शय्या और उपकरण महाब्राह्मण ले जाता है। मूर्ति इस देवकुल में पहुँचा दी जाती है। उस कुल के आदमी जलाशय पर स्नान-संध्या करने आते हैं, तब मूर्ति पर कुछ दिनों तक जल चढ़ाते रहते हैं। मकान तो खंडहर हो गया है, पर उसके आसपास, वत्सेश्वर के मंदिर के पास, जलाशय पर, जगह-जगह मूहरे बिखरे पड़े हैं। कई जलाशय की मेंड, सीढ़ियों तथा फर्श की चुनाई में लग गए हैं। कई निर्भय मनुष्य इन पत्थरों को मकानों की चुनाई के लिये ले भी जाते हैं। सभी उच्च जातियों के मृतक, मतिरूप

में, इस देवकुल में गाँव बसाकर रहते हैं। गुलेर के राजाओं तथा रानियों के मूहरे भी यहीं हैं। वे दो ढाई फुट ऊँचे हैं। उनके नीचे 'राजा-राणी' अक्षर भी लड़कपन में हम लोग पढ़ा करते थे। गाँव के बुड्ढे पहचान लेते हैं कि यह अमुक का मूहरा है। कई वर्षों तक हम अपने पितामह की प्रतिमा को पहचानते तथा उस पर जल चढ़ाते थे। पिछले वर्षों में खेलते हुए लड़कों ने या किसी और ने निवेश बदल दिया है। पत्थर रेतीला दरयाई बालू का है, इसलिये कुछ ही वर्षों की धूप और वर्षा में खुदाई बेमालूम हो जाती है*। पुरुष की

* पत्थर का यह हाल है कि वहीं जवाली ग्राम में गुलेर के एक राजा का बनाया हुआ एक मंदिर है, जिसकी छाया की ओर की खुदाई की मूर्तियाँ ज्यों की त्यों हैं; किंतु बौछाड़वाले पखवाड़े पर सब मूर्तियाँ साफ हो गई हैं। उसी की रानी के बनवाए हुए जवाली के नौण पर शिलालेख था, जिसकी कुछ पंक्तियों के आदि के अक्षर आठ वर्ष हुए पढ़े जाते थे, किंतु दो वर्ष बीते जब मैं वहाँ गया तो उतने अक्षर भी नहीं पढ़े जा सकते थे, सब के सब खिर गए थे। इस समय लेख इतना ही पढ़ा जाता था—ओं स्वस्ति श्रीगणेशा ··(१) वंदति परं पु [प्र] ··· (२) मीश्वरं······(३) पा [श] ···(४) (५) (६) (७) (८) या ·····(९) नाधि [थिं] ····(१०) भूयो भूयो ·····(११) रावराज:—— ···(१२) लोपालनोदो ·····(१३) कृतोयम्। (१४)। ये अंक पंक्तियों के अंत के सूचक हैं।

मूर्ति बैठी बनाई जाती है, स्त्री की खड़ी। पुरुष-मूर्ति के दोनों ओर कहीं-कहीं चामरग्राहिणियाँ भी बनी होती हैं। राजाओं की मूर्ति घोड़े पर होती है। वस्त्र-शस्त्र भी दिखाए जाते हैं। उस प्रांत में जहाँ-जहाँ बाँ, नौण, तला आदि हैं* वहाँ सब जगह मुहरे रखे जाते हैं। सड़क के किनारे जो जलाशय मिलता है वहाँ गाँव पास हो तो ८-१० प्रतिमाएँ रखी मिलेंगी। कुल्लू, मंडी तथा शिमले के कुछ पहाड़ी राज्यों में भी यही चाल है। यह प्राचीन देवकुल की रीति अब तक उन प्रांतों में है जहाँ परिवर्तन बहुत कम हुए हैं।



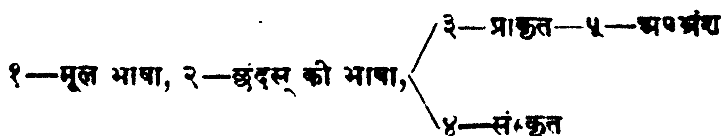
* बाँ = (संस्कृत) वापी, (बिहारी कवि) बाय, (मारवाड़ी) बाव। नौण = (संस्कृत) निपान (पाणिनि का निपानमाहावः), (मारवाड़ी) निवाण। तला = (संस्कृत) तड़ाग या तटाक (हिंदी) तालाब।

(१५) पुरानी हिंदी

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परंतु, जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है नरौने के बाँध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी बड़ी, पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिये कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीला भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे

कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति,—[हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरंभ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया इसलिये प्राकृत कहलाया] यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना साम्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम यह है—



संस्कृत अजर-अमर तो हो गई, किंतु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हाँ, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिंदी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बँध गया। इसके कई उदाहरण हैं—(१) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ'

आदि में चला, (२) देवैः की जगह देवेभिः (अधरोंह) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं, (३) संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बँध गया, किंतु प्राकृत में 'म्मि, म्हि' होता हुआ हिंदी में 'में' तक पहुँचा, (४) वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किंतु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चटानों पर चिपटी हुई काई की तरह, जहाँ की तहाँ रह गई, (५) वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह', 'हँ', ही, बहुत से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई, (६) संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतंत्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे)। (७) क्रियार्थी क्रिया के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई, (८) कृ धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लंबे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किंतु अनुप्रयोग का सिद्धांत अपभ्रंश और हिंदी तक पहुँचा। यह विषय बहुत ही बढ़ाकर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषा प्रवाह में (१) छंदस् की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (३) बौद्ध ग्रंथों की पाली, (४) जैन सूत्रों की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत—ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्धमागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छाँट की, किंतु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे*। जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं, वे देश-भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अंतर्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें और देख लेनी चाहिए। एक तो जिस किसी ने प्राकृत

---

* हेमचंद्र ने 'जिणिन्दाण वाणी' को देशीनाममाला के आरंभ में 'असेसभासपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, त की जगह य और क्ष की जगह ख, रखकर, साँचे पर जमाकर गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरे का नियमानुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं। हाँ, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल का प्राकृत रचना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देश-भेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी, अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई, प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अंतर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत—एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को

मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। हाल (सातवाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की सतसई बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबंध में अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसी में गौड़वध किया, किंतु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्मभाषा मानकर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन-रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और छंदों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छंदों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लंबे छंद प्राकृत में आए कि संस्कृत की परछाईं स्पष्ट देख पड़ी। प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ। यह कहा गया कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत का कौन सुनता है* और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतंत्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठा और संस्कृत को कठोर कह डाला†।

---

* ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे।
सते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं॥ (वज्जालग्ग, २९)

(ललित, मधुराक्षर, युवतीजनवल्लभ, सशृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है?)

† परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तियमिमाणं॥ (कर्पूरमंजरी)

शौरसेनी और पैशाची (भूतभाषा)

इन प्राकृतों के भेदों में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देश-निर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएँ मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद-रूप से ही किया गया है, तथापि हिंदी से इनका बड़ा संबंध है। शौरसेनी तो मथुरा व्रजमंडल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता, किंतु इसका वही क्षेत्र है जो व्रजभाषा, खड़ी बोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था बृहत्कथा से अमर हो गई है। वह 'बड्डुकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पंडितों (क्षेमेंद्र और सोमदेव) के किए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं (बृहत्कथामंजरी और कथा-सरित्सागर)। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच (पिश्-कच्चा मांस, अश्—खाना) या पिशाश देश कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहाँ की भाषा मानी जाती थी। किंतु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्यभारत है। मार्कंडेय ने प्राकृत व्याकरण में बृहत्कथा को केकयपैशाची में गिना है। केकय

(संस्कृत की रचना परुष और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है, उतना इन दोनों में है।)

वो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है। संभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं*। राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दशवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—"गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक† के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है"। राजशेखर को भूगोल विद्या से बड़ी दिलचस्पी थी। काव्यमीमांसा का एक अध्याय का अध्याय भूगोल-वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया भुवनकोश देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह पर बहुत बड़ाई की है। महोदय

---

* लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ० ६५ आदि।

† बीजोल्यां के लेख में भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रांत राजपूताने में ही होना चाहिए।

(कन्नौज) को मानो भूगोल का केंद्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से नहीं* । इस महोदय की केंद्रता को ध्यान में रखकर उसका बताया हुआ राजा के कविसमाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कविसमाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर, पांचाल); पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मगध), पश्चिम को अपभ्रंश (दक्षिणी पंजाब और मरुदेश) और दक्षिण को भूतभाषा (उज्जैन, मालवा) आदि के कवि बैठें † । मानो राजा का कविसमाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ । यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे ।

अपभ्रंश

बाँध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं । उनमें देशी की धाराएँ भी आकर

---

* विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चांतरमंतर्वेदी । तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः । तत्रापि महोदय मूलमवधीकृत्य इति यायावरः । (काव्यमीमांसा पृ० ९४)

† काव्यमीमांसा, पृ० ५४-५५ ।

मिलती गई । देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है, या वह जो नदीमार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है*। इन विशेषणों की साभिप्रायता विचारने योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन में†। उसने काव्य पुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन-स्थल, पैशाच को पैर और मिश्र को ऊरु कहा है। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति हैं, या आहें कई कई काम देने लगी है। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है।

---

* बालरामायण।

† काव्यमीमांसा, पृ० ४८।

वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त-विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिए, किंतु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए*। साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहाँ गत भी गय और गज भी गय; काच, काक काय (=शरीर), कार्य सब के लिये काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही था वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी चतुर, शिक्षित (गँवई से विपरीत) लोगों की भाषा,

---

* तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है। हिंदी में अब कोई जस या गुनवत नहीं लिखता, यश और गुणवान लिखते हैं। बोलें चाहे तरों, परसोतम और हरकिसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और [illegible]ष्ण।

या गुजरात के नागर ब्राह्मणों, या नगर (वडनगर, वृद्धनगर) के प्रांत की भाषा हो सकता है। गुजरात की अपभ्रंश-प्रधानता की चर्चा आगे है। किंतु उसके उस नगर का वडनगर या नगर नाम प्राचीन नहीं है इसलिये 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई श्लोक दिए हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं। यहाँ इस पाठशैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी। उच्चारण का ढंग भी कोई चीज है। वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर जो मगध आदि देशों के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढ़ते हैं किंतु प्राकृत भाषा में कुंठित हैं। बंगालियों की हँसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूँ, या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय*।

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष, न अतिकोमल, न मंद और न अतितार स्वर से पढ़ते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई रीति हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड

---

* ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥

से अंत में टंकारा देकर पढ़ते हैं। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुंदर पढ़ते हैं। सुराष्ट्र* त्रवण+, आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किंतु उनका पाठक्रम क्या है, कान में मानो गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक में) पढ़ते हैं। पांचाल देशवालों का पाठ तो कानों में शहद बरसाता है, उसका कहना ही क्या‡।

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही

---

* सोरठ—गुजरात काठियावाड़।

+ पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा बाउक के वि॰ सं॰ ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए।

‡ मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां

संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।

पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां

श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

पुरानी हिंदी की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहाँ की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है इसका निर्णय करना कठिन किंतु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिंदी भी। संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिंदी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिंदी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिंदी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिंदी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्मव) क्योंकि जिस

छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिये चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिंव' था जो जिम ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छँट खिरकर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह उप्पजइ अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिंदी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त प्रकार के कारण उ की मात्रा की गुरुता मान कर ऊपजै सही) जिसे हम हिंदी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल हिंदी के विद्वानों में 'गये, गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिये छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किंतु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा।

ऐसी कविता के लिये 'पुरानी हिंदी' शब्द जान बूझकर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्राय: सब जगह एक ही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाखा' कहलाती थी

वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिंदी कवि संत लोग विनोद के लिये एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जायँ या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिंदी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं*। यदि छापा-खाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रांतिक उद्‌बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराजरासे की भाषा को हिंदी का प्राचीन-तम रूप मानते हैं। उसका विचार हम अपभ्रंश के अव-तरणों के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिंदी नहीं कहा जाय तो रासे की भाषा

---

* जैसे,— कविहिं अगम जिमि ब्रह्मसुख अह ममममलिनजनेषु।

रन जीत रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामय॥ इत्यादि।

को राजस्थानी या 'मेवाड़ी-गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नहीं। व्रजभाषा भी हिंदी नहीं और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियाँ भी हिंदी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है। कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथा-प्रसंग में उद्धृत। मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी, कथाएँ थीं। ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन-धर्मग्रंथों में हैं, वैसे पुरानी हिंदी के नमूने भी या तो शृंगार या वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं, या जैन धार्मिक रचनाएँ। हेमचंद्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद या वाक्यों के टुकड़े ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छंद उद्धृत किए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिए उसने व्याकरण बनाया, वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी

हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिंदी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'* बनाया है, किंतु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो+पद, दो+पथ, या दो+गाथा। प्रबंधचिंतामणि में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्द्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी† । यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरा-नाथजी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये। प्रबंधचिंतामणि में ही एक जगह दो चारणों को "दोहाविद्यया स्पर्द्धमानौ" अर्थात् दोहा विद्या से होड़ाहोड़ी करते हुए कहा गया है। उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किंतु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार रेखता छंद से रेखते की बोली कहला गई थी (रेखते के उस्ताद तुमही नहीं हो गालिब !)

पुरानी हिंदी का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है। पद्य

---

* प्रबंधचिंतामणि पृष्ठ—५६, १५७।

† पहली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स।

अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चदस्स ॥ (प्र० चिं०, पृ० १५७)

दो तरह रक्षित हुआ है,—मुख से और लेख से। दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तमुख और वक्ता के मुखमुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रंथों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिये मक्खी' नहीं लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नये रूपों पर चल जाती है। गुसाईंजी के 'तइसइ' 'जुगुति', 'कालसुभाउ', 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' आर 'औरो' हो गए हैं। जो कविता मुख से कान, कान से मुख, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या पुरानी हिंदी के दोहे को लीजिए। अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है, और, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, पुरानी हिंदी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है—

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में उसने अचानक पिया को देख लिया। कहाँ तो वह वियोग में ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियाँ जमीन पर गिर पड़ीं और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी की चूड़ियाँ तड़-तड़ कर चटक गईं।

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते निकलते राजपूताने में इस दोहे का अब यह मँजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावण जाँवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल आधी टूट तड़त्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियाँ जमीन पर न गिरकर कौए के गले में पहुँच गई और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार कर ले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण*।
जो ऊभाँ† धर‡ आपणी गंजीजै§ अवरेण॥ ॥

---

* धी से, पुत्री से।

† खड़े-खड़े।

‡ पृथ्वी, धरा।

§ गंजन की जाय, जीती जाय।

॥ मलसीसर के ठाकुर श्रीभूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृष्ठ ४८। इस संग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा एहि थल०—' वाले दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है किंतु ये

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री-जाति की ओर अपमानबुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (-पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण' हो गया है। अस्तु। ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छंद आदि के ग्रंथों में, बच गया है, वह पुराने वर्ण-विन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है।

हेमचंद्र की रचना नहीं, उससे पहले के हैं। उसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत-सी कविता के साथ दिए हैं। 'एहि ति घोड़ा०' की चर्चा यथास्थान होगी।